वस्तुविज्ञानसार

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

वस्तुविज्ञानसार

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
वस्तुस्वभाव की मर्यादा दर्शानेवाले विशिष्ट प्रवचनों का सङ्कलन

गुजराती सङ्कलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :
प्रज्ञा जैन, कल्याणी जैन
सुपुत्री श्रीमती सुनीता शान्तिलाल जैन
पुणे (महाराष्ट्र)

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी - 204216 (उ०प्र०)

प्रथम तीन आवृत्तियाँ : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित
चतुर्थावृत्ति, प्रति 2000 (सम्पादित संस्करण) **तीर्थधाम मङ्गलायतन**
पञ्चमावृत्ति, प्रति 1000
(दशलक्षण महापर्व 2009 के पावन अवसर पर)

ISBN - 978-81-906776-7-7

न्यौछावर - 15 रुपये मात्र

Available At -

- **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
  Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
  Website :-www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com
- **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
  A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)
- **SHRI HITEN A. SHETH,**
  Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
  302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
  Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
  Vile Parle (W), Mumbai - 400056
  e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com
- **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
  Songarh (Guj.)

लेजर टाइप सेटिंग :
विवेक लेज़र ग्राफिक्स, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)
फोन : (0571) 2415707

मुद्रक :-देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

(पञ्चमावृत्ति)

श्री समयसार आदि परमागमों के गम्भीर रहस्य को स्वानुभवगत करके, श्री तीर्थङ्कर भगवान के शुद्धात्मानुभवप्रधान अध्यात्मशासन को जीवन्त रखनेवाले, **आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं और इस प्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्ताकर आपने असाधारण महान उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्मविद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है, वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावना योग का अद्‌भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशित करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तद्‌नुसार 'वस्तुविज्ञानसार' नामक पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का सङ्कलन प्रकाशित करते हुए, कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अतिभक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

इस 'वस्तुविज्ञानसार' के प्रवचनकार परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी शुद्धात्मदृष्टिवन्त, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव-गुरु के परमभक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के पारगामी, स्वानुभवी, भावश्रुतलब्धि के धनी, सतत ज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासह सम्यक् अनेकान्तरूप

अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम व्याख्यानकार और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युगसृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्येता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूपसन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग-भक्ति के रङ्ग से रङ्गा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

पूज्य गुरुदेव ने अध्यात्म नवनीत पूर्ण इस वस्तुविज्ञान के सार को सर्व ओर से छानकर, विराट अर्थों को इन प्रवचनों में खोला है। अतिशय सचोट, पर सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और प्रकृत विषयसङ्गत अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा पूज्य गुरुदेव ने वस्तुविज्ञान के अर्थ गम्भीर सूक्ष्मभावों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीव को कैसे भाव सहज रहें, तब जीव पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन समझा कहा जाए, कैसे भाव रहें, तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा गिना जाए, भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुवतत्व का (अनेकान्त सुसङ्गत) कैसा आश्रय हो तो द्रव्यदृष्टि यथार्थ परिणमी मानी जाए, कैसे-कैसे भाव रहे, तब स्वावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र -तप-वीर्यादि की प्राप्ति हुई कहलाये — इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषयों को, मनुष्यजीवन में बनते अनेक प्रसङ्गों के सचोट दृष्टान्तों से ऐसे स्पष्ट किये हैं कि आत्मार्थी को उस-उस विषय का स्पष्ट भावभासन होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं और वह शुभभावरूप बन्धमार्ग में, मोक्षमार्ग की मिथ्याकल्पना छोड़कर, शुद्धभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक् पुरुषार्थ में जुड़ता है। इस प्रकार 'वस्तुविज्ञानसार' के स्वानुभूतिदायक गम्भीर भाव हृदय में सीधे उतर जाएँ - ऐसी असरकारक भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाकर गुरुदेव ने आत्मार्थी जगत पर अनहद उपकार किया है।

यह परम पुनीत प्रवचन, स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षुजीवों के

हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं - ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार अध्यात्म तत्वविज्ञान के गहन रहस्य, अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्मरुचि जागृत करके, पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी खड़ी करानेवाले ये प्रवचन जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं को अनन्य आधारभूत हैं। निरावलम्बन पुरुषार्थ समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ वस्तुविज्ञान के सर्वाङ्ग स्पष्टीकरणरूप इन प्रवचनों में समस्त शास्त्रों के समस्त प्रयोजनभूत तत्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानो श्रुतामृत का सुख सिंधु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्मतत्व की रुचि उत्पन्न करके, पर के प्रति रुचि नष्ट करनेवाला परम औषध है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटि के सभी आत्मार्थियों का अत्यन्त उपकारक है। परम पूज्य गुरुदेव ने यह अमृतसागर समान प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदने के लिए अमोघ शस्त्र है; जो डाली और पत्रों को छुए बिना मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायुवाले मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है; उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत हैं।

इन प्रवचनों का प्रकाशन पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में सोनगढ़ ट्रस्ट द्वारा बहुत वर्षों पूर्व हुआ था। जिनका सङ्कलन ब्रह्मचारी हरिभाई जैन, सोनगढ़ ने किया था। उन्हीं प्रवचनों को भाषा इत्यादि की दृष्टि से पण्डित

देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियाँ वाले) **तीर्थधाम मङ्गलायतन** द्वारा सम्पादित किया गया है। हम दोनों महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन सहयोग के रूप में प्रज्ञा जैन, कल्याणी जैन सुपुत्री श्रीमती सुनीता शान्तिलाल जैन, पुणे (महाराष्ट्र) द्वारा प्राप्त सहयोग के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अन्त में यही भावना है कि मुमुक्षु अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, उग्र पुरुषार्थ से, इनमें कथित भावों को सम्पूर्ण रीति से हृदय में उतारकर निज शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को पायें।

दिनाङ्क – 28 अगस्त 2009

पवन जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रस्तावना

यथार्थ वस्तुविज्ञान का रहस्य प्राप्त किये बिना चाहे जितना प्रयत्न किया जाए, चाहे जितना व्रत, नियम, तप, त्याग, वैराग्य, भक्ति और शास्त्राभ्यास किया जाएँ तो भी जीव का एक भी भव कम नहीं होता; इसलिए इस मनुष्यभव में जीव का मुख्य कर्तव्य यथार्थतया वस्तुविज्ञान प्राप्त कर लेना है। वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष जानकर उपदिष्ट वस्तुविज्ञान विशाल है और वह अनेक आगमों में विस्तरित है। उस विशाल वस्तुविज्ञान का रहस्यभूत सार इस पुस्तक में दिया गया है।

इस पुस्तक में निम्नलिखित विषयों को स्पष्ट किया गया है -

विश्व का प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। पदार्थ स्वयं ही अपने विशेषरूप से परिणमित होता है। विशेषरूप से परिणमित होने में अन्य किसी भी पदार्थ की उसे वास्तव में किञ्चित्मात्र भी सहायता नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र होने पर भी विश्व में अन्धकार नहीं, प्रकाश है; अकस्मात् नहीं, न्याय है; इसलिए 'पुण्यभावरूप विशेष में परिणमित होनेवाले जीवद्रव्य को अमुक अर्थात् अनुकूल कही जानेवाली सामग्री का ही संयोग प्राप्त होता है, पापभावरूप विशेष में परिणमित होनेवाले जीवद्रव्य को अमुक अर्थात् प्रतिकूल कही जानेवाली सामग्री का ही संयोग होता है, शुद्धभावरूप विशेष में परिणमित होनेवाले जीवद्रव्य के कर्मादिक संयोग का अभाव ही होता है' - इत्यादि अनेकानेक प्रकार का

सहज निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध विश्व के पदार्थों में पाया जाता है। निमित्त-नैमित्तिकरूप से प्रवर्तमान पदार्थों में लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है, सब अपने अपने विशेषरूप से ही स्वतन्त्रतया एवं न्यायसङ्गतरूप से परिणमित होते रहते हैं।

ऐसा होने से जीवद्रव्य देहादि की क्रिया तो कर ही नहीं सकता, वह मात्र अपने विशेष को ही कर सकता है। सङ्कल्प-विकल्परूप विशेष दुःखमार्ग है, विपरीत पुरुषार्थ है। जगत् के स्वरूप को न्यायसङ्गत और स्वतन्त्र जानकर तथा यह निर्णय करके कि पर में अपना कोई कर्त्तृत्व नहीं है, पर से भिन्न निजद्रव्य की श्रद्धारूप से परिणमित होकर, उसमें लीन हो जाने रूप जो विशेष है, वही सुखपन्थ है, वही परम पुरुषार्थ है।

अज्ञानियों को परपदार्थ का परिवर्तन कर सकने में ही पुरुषार्थ भासित होता है, सङ्कल्प-विकल्पों की तरङ्गों में ही पुरुषार्थ प्रतीत होता है, परन्तु जिसमें विश्व के सर्व भावों की नियतता का निर्णय गर्भित है — ऐसी ज्ञान-स्वभावी आत्मा की श्रद्धा करके उसमें डूब जाने का जो यथार्थ परम पुरुषार्थ है, वह उसके ध्यान में ही नहीं आता। जीवों ने आगमों में से उपरोक्त बातों की धारणा भी अनन्तबार कर ली है, परन्तु सर्व आगमों के सारभूत ज्ञानस्वभावी स्वद्रव्य का यथार्थ निर्णय करके उसकी रुचिरूप परिणमन नहीं किया। यदि उसरूप परिणमन किया होता तो संसार परिभ्रमण नहीं रहा होता।

वस्तुविज्ञान की ऐसी अनेक परम हितकारक, रहस्यभूत, सारभूत बातें इस पुस्तक में समझायी गयी हैं, इसलिए इस पुस्तक का नाम वस्तुविज्ञानसार रखा गया है। पूज्य श्री कानजीस्वामी सोनगढ़ में मुमुक्षुओं के समक्ष सदा जो आध्यात्मिक प्रवचन करते हैं, उनमें से वस्तुविज्ञान के सारभूत कुछ प्रवचन इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। जो मुमुक्षु इनमें कथित वस्तुविज्ञानसार का अभ्यास करके, चिन्तन करके, निर्बाध युक्तिरूप प्रयोग से सिद्ध करके, निर्णीत करके चैतन्य स्वभाव की

रुचिरूप परिणमित होकर उसमें लीन होंगे, वे अवश्य शाश्वत् परमानन्ददशा को प्राप्त होंगे।

जो जीव शारीरिक क्रियाकाण्ड में या बाह्यप्रवृत्तियों में धर्म का अंश भी मानते हों, जो शुभभावों में धर्म मानते हों, शुभभाव को धर्म का किञ्चित्मात्र कारण मानते हों और जो जीव निर्णय के बिना ही मात्र शास्त्रों की धारणा से धर्म मानते हों, वे सभी प्रकार के जीव इस पुस्तक में कहे गये परम प्रयोजनभूत भावों को जिज्ञासुभाव से शान्तिपूर्वक गम्भीरतया विचार करें और अनन्तकाल से चली आनेवाली मूलभूत भूल को वस्तुस्वभाव के अपूर्व सम्यक् पुरुषार्थ से दूर कर निजकल्याण करें, इसी में मानवजीवन की सफलता है।

रामजी माणेकचन्द दोशी
अध्यक्ष
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा
वीर संवत् 2474

सम्पादकीय

परम पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसपूर्ण मङ्गल प्रवचनों का यह सम्पादित संस्करण '**वस्तुविज्ञानसार**' सद्धर्मप्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में वस्तुविज्ञान के अद्‌भुत रहस्य क्रमबद्धपर्याय, निमित्तोपादान की स्वतन्त्रता, कार्य के नियामक कारणरूप तत्समय की योग्यता, क्रिया के प्रकार, अज्ञानी के जीवन में पाये जानेवाले व्यवहार के सूक्ष्म पक्ष और उसके अभाव के उपाय का तथा वस्तु के सामान्य विशेषरूप अंशों की स्वतन्त्रता का विशद् प्रतिपादन किया है।

यह तो सर्व विदित है कि पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने पैंतालीस वर्षीय आध्यात्मिक जीवन में जिन प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनमें से क्रमबद्धपर्याय और निमित्तोपादान की स्वतन्त्रता सर्वाधिक चर्चित रहे हैं। आज सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में इन विषयों की गहरी तत्त्वचर्चा का एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को ही जाता है। मुझे इन प्रवचनों के प्रति विशेष बहुमान इस कारण भी है क्योंकि क्रमबद्धपर्याय पर हुए प्रवचन 'ज्ञानस्वभाव -ज्ञेयस्वभाव' से ही मेरे जीवन में आध्यात्मिक मोड़ आया है।

यद्यपि इन प्रवचनों का प्रकाशन सोनगढ़ ट्रस्ट से हिन्दी एवं गुजराती भाषा में अनेक बार हुआ है, परन्तु वर्तमान में काफी समय से हिन्दी में

इनकी अनुपलब्धता के कारण इन्हें सम्पादित कर प्रकाशित किया जा रहा है। इनके सम्पादन में जो-जो कार्य किया गया है, वह इस प्रकार है -

● सम्पूर्ण प्रवचनों को गुजराती के साथ अनुवाद की दृष्टि से मिलाकर, आवश्यक संशोधन किये गये हैं।

● लम्बे-लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है।

● भाषा को सरल-प्रवाहमयी बनाने का यथासम्भव प्रयास किया गया है।

● पूर्व संस्करण के हेडिंग में कुछ परिवर्तन किया गया है। जैसे - क्रिया के तीन प्रकार, जबकि इसका पूर्व हेंडिग था 'क्रिया, जड़ की संसार की व मोक्ष की' - इसी प्रकार अन्यत्र समझ लेना चाहिए।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत मेरे विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त पण्डित श्री कैलाशचन्दजी, अलीगढ़ हैं, जिनके पावन चरणों में रहकर, मुझे तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरे जीवनशिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन कार्य का अवसर प्रदान करने हेतु **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सभी आत्मार्थीजन गुरुदेवश्री की इस महा मङ्गलवाणी का अवगाहन करके अनन्त सुखी हों - इस पावन भावना के साथ।

तीर्थधाम मङ्गलायतन — **देवेन्द्रकुमार जैन**

दिनाङ्क 09 नवम्बर 2007

अनुक्रमणिका

प्रकरण -1 01

सर्वज्ञ के निर्णय में अनन्त पुरुषार्थ

प्रकरण - 2 41

वीतरागी सन्तों का उपदेश

प्रकरण - 3 44

उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता

प्रकरण - 4 84

क्रिया के तीन प्रकार

प्रकरण - 5 90

अज्ञानी के अभिप्राय में
व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष और
उसके अभाव का उपाय

प्रकरण - 6 106

वस्तु के सामान्य-विशेषरूप
अंशों की स्वाधीनता

प्रकरण - 7 121

जीव का कर्त्तव्य : द्रव्यदृष्टि का अभ्यास

ॐ

परमात्मने नमः

वस्तुविज्ञानसार

प्रकरण - 1
सर्वज्ञ के निर्णय में
अनन्त पुरुषार्थ

[कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 321-22-23 पर प्रवचन]

(वीर सम्वत् 2471 मार्गशीर्ष शुक्ला 12)

वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, तथापि सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाले को ही इसका यथार्थ निर्णय होता है और सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाले को ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से निर्मल पर्यायें होती हैं; इसके बिना न तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है और न शुद्धपर्याय ही होती है। इस प्रकार इसमें सम्यक् पुरुषार्थ है। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को समझाने के लिए यह प्रवचन है। इस प्रवचन में निम्नलिखित 20 विषयों का स्पष्टीकरण आ जाता है -

1. सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना
2. सर्वज्ञ के निर्णय में पुरुषार्थ
3. सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा का फल
4. द्रव्यदृष्टि
5. जड़ और चेतन पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय
6. उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता
7. द्रव्य-गुण-पर्याय
8. सम्यग्दर्शन
9. कर्तृत्व और ज्ञातृत्व
10. साधकदशा का स्वरूप
11. कर्म में उदीरणा इत्यादि प्रकार
12. मुक्ति की निःसन्देह प्रतिध्वनि
13. सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की मान्यता में अन्तर
14. अनेकान्त और एकान्त
15. पाँच समवाय
16. अस्ति-नास्ति
17. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध
18. निश्चय-व्यवहार
19. सर्वज्ञ और आत्मज्ञ
20. निमित्त की उपस्थिति रहने पर भी उसके बिना कार्य का होना।

सर्वज्ञ के निर्णय में इन सबका निर्णय आ जाता है। इसमें अनेक तरह से बारम्बार पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता सिद्ध की है और इस प्रकार स्व-सन्मुखता कराकर आत्मा की पहचान करायी है। जिज्ञासु जन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर, सर्वज्ञ का निर्णय कर, ज्ञानस्वभावी आत्मा के सन्मुख होकर मोक्ष का सत्य पुरुषार्थ प्रगट करें - यही भावना है। ●●●

श्री कार्तिकेयस्वामी ने सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा के वर्णन में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तुस्वरूप का कैसा चिन्तन करता है तथा उसमें मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ भी किस प्रकार आ जाता है – यह विशेष ज्ञातव्य है। इसलिए यहाँ मूल गाथाएँ लेकर इनका विवेचन किया जा रहा है। मूल गाथाएँ इस प्रकार हैं –

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा॥ 321॥
तं तस्स तम्मि देसे जेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा॥ 322॥

अर्थ — जिस जीव को, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधि से जन्म-मरण, सुख-दुःख तथा रोग और दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं, उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है, उसी प्रकार उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में और उसी विधि से नियमपूर्वक सब होता है; उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थङ्करदेव कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ — सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है; उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है।

इन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है? सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिन्तन करता है? – यह बात यहाँ बताई है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना झूठा आश्वासन देने के लिए नहीं है किन्तु जिनेन्द्रदेव के द्वारा

देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है, उसी प्रकार स्वयं चिन्तवन करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है; यह कोई कल्पना नहीं है, यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होनेवाली अवस्था सर्वज्ञ भगवान ने देखी है, उस काल में वही अवस्था होती है, दूसरी नहीं होती।' इस निर्णय में एकान्तवाद या नियतवाद नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ की प्रतीतिपूर्वक सच्चा अनेकान्तवाद और ज्ञानस्वभाव की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ निहित है।

आत्मा, सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है, वह अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप है। द्रव्य सामान्य है और प्रति समय होनेवाली पर्याय विशेष है। सामान्यरूप में ध्रुव रहकर, वस्तु का विशेषरूप परिणमन होता है; उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो प्रति समय विशेष में शुद्धता होती है और यदि उस विशेष पर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि व देहादि है, वह मैं हूँ' तो विशेष में अशुद्धता होती है। जिसे स्वरूप की रुचि है, उसे शुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है और जिसे विकार की-पर की रुचि है, उसे अशुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है। चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जीव जिस ओर की रुचि करता है, उस ओर की क्रमबद्ध दशा होती है।

जिसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा व रुचि होती है, उसकी पर्याय शुद्ध होती है; सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इतना निश्चय करने में तो ज्ञानस्वभावी द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है, किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है। रुचि के अनुसार पर्याय होती है।

प्रश्न — जगत के पदार्थों की अवस्था क्रमनियमित होती है। जड़ अथवा चेतन इत्यादि में एक के बाद दूसरी अवस्था जैसी श्री सर्वज्ञदेव ने देखी है, उसी के अनुसार होती है, तब फिर इसमें पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही?

उत्तर — जब आत्मा के ज्ञानस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ किया जाता है, तब ही सर्वज्ञ की और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मा में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया कि अहो! जड़ और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमबद्ध स्वयं हुआ करती है, मैं पर में क्या कर सकता हूँ? मेरा ऐसा स्वरूप है कि पदार्थ में जैसा होता है, मैं वैसा ही जानता हूँ; ऐसे निर्णय में उस पर की अवस्था में अच्छा-बुरा मानना नहीं रहता; इस प्रकार कर्तृत्व छूट कर ज्ञातृत्व ही रहता है। ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से विपरीत मान्यता का और अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त परद्रव्य के कर्तृत्व का महा मिथ्यात्वभाव दूर होकर, अपने ज्ञातास्वभाव की अनन्त दृढ़ता हो जाती है। इस प्रकार अपनी ओर का ऐसा अनन्त पुरुषार्थ सर्वज्ञ की प्रतीति में आ जाता है।

समस्त द्रव्यों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ, किन्तु किसी का कुछ नहीं करता - ऐसी मान्यता के द्वारा जीव, मिथ्यात्व का नाश करके, पर से हटकर अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता; समस्त पदार्थों की समय-समय पर क्रमनियमित अवस्था होती है, वही होता है - ऐसे निर्णय में सम्यक् पुरुषार्थ किस प्रकार आया? - यह बतलाते हैं।

पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मैं पर का

कुछ नहीं करता, यह निश्चय करते ही सभी परद्रव्यों के परिणमन के कर्त्तत्त्व का अभिमान दूर हो जाता है, स्व-पर की भिन्नता का भाव होता है और मेरी अवस्था पर के कारण नहीं होती, इसलिए पराश्रयबुद्धि मिट जाती है।

पहले विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था में अच्छा -बुरा मानकर जो अनन्तानुबन्धी रागद्वेष करता था, वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने पर परद्रव्य के कर्तृत्व से हटकर, स्वयं राग-द्वेषरहित अपने ज्ञातास्वभाव के सन्मुख आ गया अर्थात् अपने हित के लिए परसहाय की बुद्धि छूट गयी और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो ज्ञानस्वभाव का पिण्डरूप द्रव्य हूँ; वस्तु तो ज्ञाता ही है; विकारी अवस्था जितनी वस्तु नहीं है। अवस्था में जो राग-द्वेष होता है, वह परवस्तु के कारण नहीं किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है; इस दुर्बलता की भी प्रधानता नहीं रही, किन्तु स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञातास्वरूप में ही दृष्टि रही। उस स्वरूप के लक्ष्य से पुरुषार्थ की दुर्बलता का अल्पकाल में अभाव हो जाएगा।

मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है, परपदार्थ में से नहीं तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती; इसलिए अपनी पर्याय के लिए परद्रव्य की ओर अथवा पर्याय की ओर देखना नहीं रहा, किन्तु ज्ञातास्वरूपी अखण्ड द्रव्य की ओर देखना रहा। जब ऐसी दशा हो जाती है, तब समझना चाहिए कि उसने सर्वज्ञ का और सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर लिया है।

प्रश्न — सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो, तभी तो आत्मा की रुचि होती है न?

उत्तर — यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञ भगवान सब कुछ जानते हैं? जिसने अपनी पर्याय में सर्वज्ञ भगवान की ज्ञानशक्ति का निर्णय किया है, उसकी पर्याय, संसार से और राग से हटकर, अपने ज्ञातस्वभाव की ओर झुक गयी है, तभी सर्वज्ञ का निर्णय सच्चा होता है। जिसकी पर्याय ज्ञानस्वभाव की ओर हो गयी है, उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थरूप से निश्चय किया कि 'अहो! केवली भगवान तीन काल और तीन लोक के ज्ञाता हैं, वे अपने ज्ञान से सबकुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नहीं करते', उसने अपने आत्मा को ज्ञातास्वभाव के रूप में जान लिया और उसको तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों की कर्त्तत्वबुद्धि दूर हो गयी है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। स्वभाव का ऐसा अनन्त पुरुषार्थ, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। **क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नियतवाद नहीं है किन्तु सम्यक् पुरुषार्थवाद है, सर्वज्ञवाद है।**

प्रत्येक द्रव्य की एक के बाद दूसरी जो अवस्था होती है, उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य होता है, किन्तु मैं उसका कर्ता नहीं हूँ और न मेरी अवस्था का कोई अन्य कर्ता है। किसी निमित्तकारण से राग-द्वेष नहीं होते; इस प्रकार निमित्त और राग-द्वेष को मात्र जाननेवाली ज्ञान की अवस्था रह जाती है। वह अवस्था ज्ञातास्वरूप को जानती है, राग को जानती है और पर को भी जानती है; मात्र जानना ही ज्ञान का स्वरूप है। जो राग होता है, वह ज्ञान का ज्ञेय है, किन्तु राग उस

ज्ञान का स्वरूप नहीं है – ऐसी श्रद्धा में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहता है।

आचार्यदेव ने यहाँ पर इन दो गाथाओं में वस्तुस्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान नहीं हुआ, इसके पहले केवलज्ञान को प्रतीति में लेकर, अपने केवलज्ञान की भावना करता हुआ वस्तु स्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञ ने कैसा वस्तुस्वरूप देखा है? इसका चिन्तन करता है।

वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती है। वस्तु की जो अवस्था होती है, उस अवस्था के लिए अनुकूल निमित्तरूप परवस्तु स्वयं उपस्थित रहती है। आत्मा की क्रमबद्धपर्याय की जो योग्यता होती हो, उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय रुक जाएगी – ऐसी बात नहीं है। यह प्रश्न ही नहीं रहता कि यदि निमित्त नहीं आयेगा तो पर्याय कैसे होगी? उपादानस्वरूप की दृष्टिवाले को यह प्रश्न ही नहीं रहता। वस्तु में अपने क्रम से जब जो अवस्था होती है, तब उसका निमित्त भी होता ही है – ऐसा नियम है।

धूप, परमाणुओं की प्रकाशरूप दशा है और छाया भी परमाणुओं की दशा है। परमाणुओं में जिस समय काली अवस्था होती है, उस समय काली अवस्था उनके द्वारा स्वयं होती है और उस समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित रहती है। परमाणुओं की काली दशा के क्रम को बदलने के लिए कोई समर्थ नहीं है। धूप के बीच में हाथ रखने पर नीचे परछाई पड़ती है, वह हाथ के कारण नहीं पड़ती, किन्तु वहाँ के परमाणुओं की ही उस समय काली अवस्था हुई है।

प्रश्न — अमुक परमाणुओं में दोपहर को तीन बजे काली अवस्था होनी है — ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा हो और यदि उस समय हाथ बीच में न आये तो क्या उन परमाणुओं की तीन बजे होनेवाली काली दशा रुक जायेगी?

उत्तर — नहीं; ऐसा होता ही नहीं। परमाणुओं में ठीक तीन बजे काली अवस्था होनी हो तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त स्वयं उपस्थित रहते ही हैं। सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में यह देखा हो कि तीन बजे अमुक परमाणुओं की काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलम्ब से आने के कारण वह अवस्था विलम्ब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान गलत ठहरेगा, किन्तु यह असम्भव है। जिस समय वस्तु की जो अवस्था होनी होती है, उस समय निमित्त की उपस्थिति न हो, यह हो ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु पर में वह कुछ करता नहीं है।

जिस प्रकार यहाँ पुद्‌गल की पर्याय का दृष्टान्त दिया गया है; इसी प्रकार अब जीव की पर्याय का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर में वज्रवृषभनाराच संहनन के न होने से केवलज्ञान रुक जाए, ऐसी मान्यता असत्य एवं पराधीनदृष्टिवालों की है। जीव, केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में हो और शरीर में वज्रवृषभनाराच संहनन न हो - ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो, वहाँ निमित्त भी होता ही है। जिस समय उपादान कार्यरूप में परिणत होता है, उसी समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित रहती है - ऐसा होने पर भी निमित्त,

उपादान के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता, असर, प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो, और निमित्त से कार्य हो – ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड़ द्रव्य में उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था, जब होनी होती है, तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं – ऐसा स्वाधीन दृष्टि का विषय है, उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है, मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं होती; इसलिए उनकी दृष्टि निमित्त पर ही रहती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिए वह वस्तु के धर्म में शङ्का करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया है ? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है। ज्ञानी को वस्तुस्वरूप में शङ्का नहीं होती। वह जानता है कि जिस काल में, जिस वस्तु की, जो पर्याय होती है, वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था है; मैं तो मात्र ज्ञायक हूँ। इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्व स्वभाव की प्रतीति होती है; इसलिए वह सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जाने गए वस्तुस्वरूप का चिन्तन करके, अपने ज्ञान की भावना को बढ़ाता है कि मैं ज्ञायक ही हूँ; अपने ज्ञायकस्वरूप की भावना करते-करते मुझे केवलज्ञान प्रगट हो जाएगा।

ऐसी भावना केवली भगवान के नहीं होती किन्तु जिसे अभी अल्प रागद्वेष होता है – ऐसे चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवाले ज्ञानी की धर्मभावना का यह विचार है। इसमें यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है। यह कोई मिथ्या कल्पना या झूठे आश्वासन के लिए नहीं है। सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग-वियोग को आपत्ति का कारण नहीं

मानते, किन्तु ज्ञान की अपूर्णदशा के कारण अपनी दुर्बलता से उसे अल्प रागद्वेष होता है, उस समय सम्पूर्ण ज्ञानदशा किस प्रकार की होती है, इसका वे इस तरह चिन्तवन करते हैं। यह धर्मभावना है अर्थात् वस्तुस्वरूप का चिन्तवन है।

जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञदेव के ज्ञान में ज्ञात हुई है, उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी। भगवान तीर्थङ्करदेव भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं। देखिए, इसमें सम्यग्दृष्टि की भावना की निःशङ्कता का कितना बल है! 'भगवान भी उसे बदलने में समर्थ नहीं है' - यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की निःशङ्कता ही हैं। सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता है किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं हैं, तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ। इस प्रकार उसे अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है; पर में कर्त्तत्व की बुद्धि छूट गई है।

जिस क्षेत्र में, जिस शरीर के जीवन या मरण; सुख या दुःख; संयोग या वियोग; जिस विधि से होना है, उसमें किञ्चित्मात्र भी अन्तर नहीं पड़ सकता। साँप का काटना, पानी में डूबना, अग्नि में जलना इत्यादि जो संयोग होना है, उसे बदलने को कोई भी तीन काल-तीन लोक में समर्थ नहीं है। इसमें महानतम सिद्धान्त निहित है जो कि ज्ञानभाव का पुरुषार्थ सिद्ध करता है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य महा सन्त-मुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। उन्होंने वस्तुस्वरूप को दृष्टि में रखकर इस शास्त्र में बारह भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया है। यह शास्त्र सनातन जैन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है।

स्वामी कार्तिकेय मुनिराज के सम्बन्ध में श्रीमद्राजचन्द्र ने लिखा है कि 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा वैराग्य का उत्तम ग्रन्थ है। उसमें द्रव्य / वस्तु को यथावत् लक्ष्य में रखकर, वैराग्य का निरूपण किया है। गत वर्ष मद्रास तक जाना हुआ था, उस भूमि में कार्तिकेयस्वामी ने बहुत विचरण किया है। इस ओर के नग्न, भव्य, ऊँचे अडोल वृत्ति से स्थित पहाड़ देखकर स्वामी कार्तिकेयादि की अडोल वैराग्यमय दिगम्बरवृत्ति बहुत याद आती थी। नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेयादि को। इस महा सन्त-मुनि के कथन में बहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।'

'जिस जीव के' अर्थात् सभी जीवों के लिए यही नियम है कि जिस जीव को, जिस काल में, जीवन मरण इत्यादि का कोई भी संयोग, सुख-दुःख का निमित्त आनेवाला है, वह आएगा ही, उसमें परिवर्तन करने के लिए देवेन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं है। यह सम्यग्दृष्टि जीव का यथार्थ वस्तुस्वरूप का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसे अपने ज्ञान में लेने योग्य है।

यहाँ सुख-दुःख के संयोग की बात की गयी है। संयोग के समय भीतर जो शुभ या अशुभभाव होता है, वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से राग-द्वेष होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व-लक्ष्य से जानता है; वह यह नहीं मानता कि संयोग के कारण से राग-द्वेष होते हैं, किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा ही संयोग-वियोग क्रमशः होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि परसंयोग के कारण राग–द्वेष होते हैं; इसलिए वह संयोग को बदलना चाहता है; उसे वीतराग–शासन के प्रति श्रद्धा नहीं है और न उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा है। जो कुछ होता है, वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है। जिसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो, उसे यह निश्चय करना चाहिए कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है, उसी के अनुसार सबकुछ होता है और ऐसा होने से यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने में राग–द्वेष होते हैं और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्ध में थोड़ा सा भी अन्यथा मानता है, तो समझना चाहिए कि उसे वीतराग सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है।

'जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही होता है, इसमें किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता' - ऐसी सर्वज्ञ की दृढ़ प्रतीति को नियतवाद नहीं कह सकते; यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नहीं जमती। जिसकी दृष्टि मात्र परपदार्थ पर ही है, उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है किन्तु यदि स्व–वस्तु की ओर से देखे तो इसमें ज्ञानस्वभाव की स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ भरा हुआ है।

वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है – ऐसा निश्चय करने पर, जीव समस्त परद्रव्यों से उदास हो जाता है और स्वद्रव्य के सन्मुख हो जाता है; उसी में सम्यक्त्वादि का पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं।

इस क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा के भाव सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का अवलम्बन करनेवाले हैं; यह भाव तीन काल और तीन लोक में बदलनेवाले नहीं हैं। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान गलत हो जाए तो यह भाव बदले, जो कि सर्वथा असक्य है। जगत, जगत में रहे, यदि जगत के कुछ जीवों को सर्वज्ञता की यह बात नहीं बैठती तो इससे क्या? जो वस्तुस्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है, वह कभी नहीं बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा ही होता है। जो इसमें शङ्का करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। मैं निमित्त और संयोग में परिवर्तन कर सकता हूँ - ऐसा माननेवाला, सर्वज्ञ के ज्ञान में शङ्का करता है और इसलिए वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है।

अहो! इस ज्ञानस्वभाव को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीनभाव हो जाता है! शरीर का और पर का कर्तृत्व छूटकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हो जाती है। इसमें अनन्त -वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। कोई जीव अन्तरङ्ग में पर का कर्तृत्व मानता हो, पर में सुखबुद्धि हो और कहे कि जो होना है सो होगा - यह तो शुष्कता है; यह बात ऐसी नहीं है। जब जीव अनन्त परद्रव्यों से पृथक् होकर, मात्र स्वभाव में सन्तोष मानता है, तब यह बात यथार्थ बैठती है; इसकी स्वीकृति में तो सभी परपदार्थों से हटकर ज्ञान, ज्ञान में ही लगता है अर्थात् मात्र वीतरागभाव को ही करता है।

जिसको ऐसी प्रतीति है कि नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र, तीन काल और तीन लोक में एक परमाणु को बदलने में समर्थ नहीं है, वह ज्ञान की ओर सन्मुख हुआ है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है, वह क्रमशः ज्ञान की दृढ़ता के बल से राग का नाश करके अल्पकाल में

ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा, क्योंकि यह निश्चय किया हुआ है कि सबकुछ क्रमबद्ध ही होता है; इसलिए वह अब ज्ञाताभाव से जानता ही है। ज्ञान की एकाग्रता की कमी के कारण वर्तमान में कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग-द्वेष भी होता है, परन्तु 'मैं तो ज्ञान ही हूँ' - ऐसी श्रद्धा के बल से पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा; इसलिए 'मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ, परपदार्थों की क्रिया स्वतन्त्र होती है, उसका कर्ता मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञाता ही हूँ,' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्रगट करने का एकमात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

वस्तु में जो कुछ हुआ, होता है और होगा; वह सब केवली भगवान ज़ानते हैं और जो कुछ केवली भगवान ने जाना है, वह सब वस्तु में होता है; इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल/सम्बन्ध है। यदि ज्ञेय-ज्ञायक का मेल नहीं माने और किञ्चित्मात्र भी कर्ता-कर्मपना माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है।

केवलज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक हैं, उनको किसी भी पदार्थ के प्रति कर्त्तत्व या राग-द्वेषभाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ। मैं किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। यदि अस्थिरता से राग हो जाए तो वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियमपूर्वक वस्तु की क्रमबद्ध दशा होती है, मैं उसका ज्ञाता हूँ; वह वस्तुस्वरूप का ज्ञाता हुआ।

हे भाई! यह (क्रमबद्धपर्याय) नियतवाद नहीं है, अपितु अपने ज्ञान का व समस्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थवाद है। जब कि समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है तो मैं उसके लिए क्या करूँ? मैं किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिए समर्थ नहीं हूँ। मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्यस्वभाव में से प्रगट होती है, इसलिए मैं अपने द्रव्यस्वभाव में एकाग्र रहकर सबका ज्ञाता ही हूँ - ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न — जब सभी क्रमबद्ध हैं और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो फिर जीव का पुरुषार्थ परिमित हो गया?

उत्तर — नहीं; सब कुछ क्रमबद्ध है, मैं उसका अकर्ता हूँ, ज्ञाता हूँ, कर्ता नहीं - इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। जैसे भगवान जगत का सबकुछ मात्र जानते ही हैं, किन्तु वे भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया? नहीं; भगवान का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज में है, पर में नहीं। **पुरुषार्थ, जीव द्रव्य की पर्याय है; इसलिए उसका कार्य जीव की ही पर्याय में होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता।**

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा, आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहो! जिनको

पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है, वे केवलज्ञानी हैं; उनके ज्ञान में सबकुछ एक ही साथ ज्ञात होता है – ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी स्वसन्मुखदृष्टि से ज्ञानभावरूप परिणमन करने लगा। ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्त्तत्व अथवा रागादिक, सबकुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ज्ञानी इस ज्ञानदृष्टि के बल से और ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तुस्वरूप का चिन्तवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्त्तत्व मानता है और पर-कर्त्तत्व की मान्यतावाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व मे परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जो देखा है, वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता,' इस प्रकार जो मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। हे भाई! तू किसके ज्ञान से बात करता है? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया, उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो यह हो ही कैसे सकता है? **स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।**

तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा होता है' तो वह मात्र बात करने के लिए कहा है अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है? पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्वप्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक यह कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान

का निर्णय करनेवाले ज्ञान में सम्यक् पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य कार्य करता है, तथापि उसका इन्कार करके तू कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं रहा! सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की श्रद्धा ही नहीं है और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नहीं हुआ है।

केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बातें ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ है। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और मोक्ष की शङ्का नहीं रह सकती। यथार्थ निर्णय करे और मोक्ष का पुरुषार्थ न आये – यह हो ही नहीं सकता।

जिस ज्ञान ने अनन्त पदार्थों को जाननेवाले, अनन्त सामर्थ्य से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान का निर्णय किया, उस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के? जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है, उसने राग में लिप्त होकर प्रतीति नहीं की, किन्तु राग से पृथक् होकर, अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है। **जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है, वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिए उस ज्ञान में भव की शङ्का नहीं है।**

जब पहले ज्ञान में केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी, तब वह अनन्त भव की शङ्का में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनन्त भव की शङ्का दूर हो गयी है तथा एकाध भव में मोक्ष के लिए

ज्ञान निःशङ्क हो गया है, उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा ही होता है', ऐसी सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा में अपनी भवरहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। सर्वज्ञ के यथार्थ निर्णय के बल से मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय इस जीव से नहीं होती, वैसे ही इस जीव की क्रमबद्धपर्याय भी अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्धपर्याय के निर्णय के लिए अपने द्रव्यस्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो! मेरी पर्यायरूप तो मेरा द्रव्य ही होता है। द्रव्य में राग-द्वेष नहीं है, कोई परद्रव्य मुझे राग-द्वेष नहीं कराता; पर्याय में जो अल्प राग-द्वेष है, वह मेरी कमजोरी के कारण से है, वह कमजोरी भी मेरे द्रव्य में नहीं है। इस प्रकार पर में न देखकर, अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है। वह जीव स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके केवलज्ञान को अवश्य प्रगट करेगा। बस, उसी को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा है, उस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है और वही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है, जिसका फल सर्वज्ञदशा है।

द्रव्य में प्रतिसमय जो विशेष अवस्था होती है, वह वस्तु में से ही आती है। वस्तु में विशेष प्रगट होता है; इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है। सामान्य-विशेषरूप वस्तु की यह बात जैन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नहीं सकते।

सामान्य में से विशेष होता है – इतना सिद्धान्त निश्चित करने पर, उसका परिणमन निज की ओर ढल जाता है। पर से मेरी पर्याय नहीं होती, निमित्त से भी नहीं होती, विकल्प से भी शुद्धपर्याय नहीं होती और एक पर्याय में से भी दूसरी पर्याय होती; इस प्रकार सबसे लक्ष्य हटाकर, जो जीव अपने द्रव्य की ओर झुका है, उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गयी है कि सामान्य में से ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नहीं होती।

भगवान ने जैसा देखा है, वैसा ही होता है – यह निश्चय करनेवाले की बुद्धि परकर्तृत्व से हटकर, निज में स्तम्भित हो गयी है। ज्ञान ने निज में स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यों का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर में से आई है और न विकल्प में से आई है, किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य में से प्रगट हुई है अर्थात् निर्णय करनेवाले ने द्रव्य को प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर हुआ है; अत: वह कहीं भी न रुककर, अल्पकाल में ही सर्वज्ञ हो जाएगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है – ऐसा माननेवाला वास्तव में अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को, तथा द्रव्य–पर्याय की स्वतन्त्रता को नहीं मानता।

अपना आत्मा पर से भिन्न है, तथापि वह पर का कुछ करता है; इस प्रकार मानना, आत्मा को पररूप मानना है अथवा आत्मा को नहीं मानना ही है।

वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुए अनुसार होती है,

उसके बदले यह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है।

वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, तब निमित्त उसे करता है अथवा निमित्त उसमें कोई परिवर्तन कर डालता है, यह बात कहाँ रही? निमित्त, पर का कुछ भी नहीं करता, तथापि जो यह मानता है कि मेरे से पर में कोई परिवर्तन होता है, वह सच्चे न्याय को नहीं मानता।

द्रव्य की पर्याय द्रव्य में से ही आती है, उसके बदले जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती है अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय का कर्ता हूँ, वह द्रव्य-पर्याय के स्वरूप को ही नहीं मानता। इस प्रकार विपरीत मान्यता में असत् का सेवन आ जाता है।

वस्तु क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमति है, उसका कर्ता दूसरा नहीं है। जैसे ज्ञान समस्त वस्तुओं को मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है; इसी प्रकार परद्रव्य निमित्तमात्र होता है, वह उपादान में कुछ करता नहीं है।

जिस समय स्वलक्ष्यी पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है, उस समय सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आदि निमित्त होते हैं।

प्रश्न — जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आदि निमित्त न मिलें तो सम्यग्दर्शन नहीं होता है न?

उत्तर — यह हो ही नहीं सकता कि जीव को सम्यग्दर्शन

प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव-गुरु आदि निमित्त न हों। जब उपादानकारण तैयार होता है, तब निमित्तकारण स्वयमेव आ जाता है, किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं होता। उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है। दोनों स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने कार्य के कर्ता हैं।

अहो! वस्तु कितनी स्वतन्त्र है! समस्त वस्तुओं में क्रमवर्तित्व चल ही रहा है। जो पर्याय होनी है, वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव ज्ञात के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है। जो पर के कर्तृत्व का अभिमान करता है, उसकी पर्याय अज्ञानमय होती है और जो ज्ञाता रहता है, उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है।

सर्वज्ञदेव ने वस्तु की अनादि-अनन्त समय की पर्यायें जैसी जानी हैं, उनका क्रम नहीं बदलता। अनादि-अनन्त काल का जितना समय है, उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायें हैं। वस्तु स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से प्रत्येक समय की पर्यायरूप परिणमन करती हैं, इस क्रम से जितने समय हैं उतनी ही पर्यायें हैं। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय कर दूँ तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु के स्वतन्त्र परिणमन को नहीं मानता है। पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है।

इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में केवलज्ञान का स्वीकार है। इसमें श्रद्धा-ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ है। जब अनादि-अनन्त अखण्ड द्रव्य को प्रतीति में लेते हैं, तब क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का मूल तो वही है। जो जीव, स्वसन्मुख

होकर ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करता है और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीति करके, ज्ञानभावरूप परिणत होता है, उसे ही क्रमबद्धपर्याय का सच्चा स्वरूप ख्याल में आता है। मेरी पर्यायरूप मेरा द्रव्य परिणमता है; इस प्रकार द्रव्य की ओर झुकने से साधक पर्याय का प्रारम्भ हुआ, उसे अब स्वद्रव्य की ओर ही देखना रहा और उसी द्रव्य के बल पर पूर्णता हो जाएगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है; वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान में लिए बिना पर्याय में शान्ति कहाँ से आयेगी? यदि सुख-दशा चाहते हो तो यह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा; जिससे सुख-दशा प्रगट हो सके।

अहो! मेरी पर्यायरूप मेरा आत्मा ही परिणमता है, इस प्रकार जिसने निश्चय किया, उसे अपने में ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से समभाव-ज्ञाताभाव हो जाता है, उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नहीं रहती किन्तु जो-जो पर्यायें होती हैं, वह उनका ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है। जो ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है, उसे केवलज्ञान होने में विलम्ब कैसा? ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है, वह विषमभावरूप है अर्थात् विकारी है और निज में दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप में रहने पर जो पर्याय होती है, वह समभाव से विशेष शुद्ध होती जाती है।

जीव का सबकुछ अपनी पर्याय में ही समाविष्ट होता जाता है। यदि अपनी पर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि परदृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। शुद्धता-अशुद्धता का पर के साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दृष्टि किस ओर जाती है, इस पर शुद्ध

–अशुद्ध पर्याय का आधार है। कोई जीव शुभभाव करने से परवस्तु (देव, शास्त्र, गुरु अथवा मन्दिर इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता और अशुभभाव करने से (कोई रुपया–पैसा इत्यादि) परवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। जो परवस्तु, जिस काल में और जिस क्षेत्र में आनी होती है, वही वस्तु उस काल और उस क्षेत्र में स्वयं आ जाती है, वह आत्मा के भाव के कारण नहीं आती।

वस्तु की समस्त पर्यायें अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती है, उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस समझ में वस्तु की प्रतीति और ज्ञानस्वभाव की सन्मुखतारूप वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर जीव अनन्त परद्रव्यों के कर्तृत्व को छेदकर मात्र ज्ञाता हो जाता है। इसमें सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

जैसे आत्मा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप होता है, उसी प्रकार जड़ भी अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप होता है। कर्म की जो–जो अवस्था होती है, उसे आत्मा नहीं करता, किन्तु वे परमाणु ही उस पर्यायरूप होते हैं। कर्म के परमाणुओं में उदय, उदीरणा इत्यादि जो दश अवस्थाएँ (करण) हैं, वे भी परमाणु की क्रमबद्धदशा है। आत्मा के शुभपरिणाम के कारण कर्म के परमाणुओं की दशा बदल नहीं गयी है, किन्तु उन परमाणुओं में ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी; इसलिए वह दशा हुई है। जीव अपनी दशा में पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमबद्धदशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वयं होती है। परमाणु में उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है किन्तु आत्मा उसका कुछ नहीं करता।

प्रश्न — कर्म यदि परमाणु की क्रमबद्धपर्याय ही है तो फिर जैनों में तो कर्मसिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पड़े हैं, उनके सम्बन्ध में क्या समझा जाए?

उत्तर — हे भाई! यह सभी शास्त्र आत्मा के परिणाम को ही बतानेवाले हैं। कर्म का जितना वर्णन है, उसका आत्मा के परिणाम के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस-किस प्रकार के होते हैं, यह समझाने के लिए उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिए कर्म का वर्णन किया है किन्तु जड़कर्म के साथ आत्मा का कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न — बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता, निद्धत्त और निकाचित — ऐसे दश प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यों कहे गये हैं?

उत्तर — इसमें भी वास्तव में तो चैतन्य की ही पहचान करायी गयी है। कर्म के जो दश प्रकार बताये हैं, वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बताने के लिए ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ वैसे दश प्रकार से हो सकता है - यह बताने के लिए कर्म के भेद करके समझाया है। आत्मा के पुरुषार्थ के अनुरूप परमाणु भी उसकी योग्यता से स्वयं परिणमन करते हैं, इसमें दोनों के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है, परन्तु यह बात नहीं है कि कर्म, आत्मा का कुछ करते हैं।

कर्म का प्रत्येक परमाणु भी द्रव्य है, वह द्रव्य अपनी तीन काल की पर्यायरूप से स्वयं परिणमन करता है।

प्रश्न — शास्त्र में तो यह कहा है कि कर्म की उदीरणा होती है?

उत्तर — उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि बाद में होनेवाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो; परमाणु की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की है। जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया - यह बताने के लिए उपचार से ऐसा कहा है कि कर्म में उदीरणा हुई है। उदीरणा में भी कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया है।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते हैं, वहाँ भी वास्तव में जीव ने कर्मों को खिराने का पुरुषार्थ नहीं किया है, किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिए उपचार से ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्मपरमाणुओं को अल्पकाल में ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन में यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मों की अवस्था स्वयं खिरनेरूप थी, वे कर्म खिर गये। परमाणु की अवस्था के क्रम में भङ्ग नहीं पड़ता। 'बहुत काल के कर्म क्षणभर में नष्ट कर दिये' - इस कथन का तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए कि जीव ने अपनी पर्याय में बहुत-सा पुरुषार्थ किया है।

छहों द्रव्य परिणमनस्वभावी हैं और वे अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होते हैं। छहों द्रव्य पर की सहायता के बिना स्वयं परिणमित होते हैं, यह श्रद्धा करने में ही पर के अकर्तृत्व का अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना जीव की एक भी पर्याय नहीं

होती। अज्ञानी पुरुषार्थ की सन्मुखता अपनी ओर करने के बदले पर की ओर करता है। यदि वह स्वभाव की रुचि करे तो स्वभाव की ओर ढले और पर्याय क्रमशः शुद्ध होती जाए।

इस बात की समझ में आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है; इसलिए इस बात को बहुत विश्लेषण करके समझना चाहिए, सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिए। परम सत् को ढँकना नहीं चाहिए, किन्तु ऊहापोह करके बराबर निश्चय करना चाहिए। **सत्य में किसी की लज्जा नहीं होती, यह तो वस्तुस्वरूप है।**

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञान से यह जानता है कि सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में जो जाना है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। दूसरा उसका कर्ता नहीं है। मेरी केवलज्ञान पर्याय, मेरे स्वद्रव्य में से ही प्रगट होगी – ऐसी सम्यक् भावना से उसका ज्ञान, स्वसन्मुख होकर स्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञाताशक्ति प्रति पर्याय में निर्मल होती जाती है तथा विकारीपर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है ? जो ऐसे स्वभाव में निःशङ्क है, वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तनिक भी सन्देह का वेदन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

अहो! इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो! वह स्वभाव के आश्रय से ही साधकदशा का प्रारम्भ करता है और स्वभाव में ही लाकर पूर्ण करता है। केवलज्ञान सम्पूर्णतया निज में ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कहीं से प्रारम्भ किया है और न बाह्य में कहीं

रुकनेवाला है। आत्मा का मार्ग आत्मा में से निकलकर आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीव की ही बात नहीं है, अपितु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यह निश्चय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य है। यह निश्चय करने पर, पहले अनन्त पदार्थों को अच्छा-बुरा मानकर जो राग-द्वेष होता था, वह सब दूर हो गया; पर का स्वामित्व मानकर जो वीर्य पर में रुक रहा था, वह अब अपने आत्मस्वभाव की ओर लग गया है; राग-निमित्त इत्यादि के ओर की दृष्टि छूट गयी और स्वभाव में दृष्टि हो गयी। स्वभावदृष्टि में अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है, इसकी यह बात है। स्वभावदृष्टि को समझे बिना व्रत, तप आदि सब बिना इकाई के शून्य के समान हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के यह कोई सच्चे नहीं होते, उनसे पुण्य होगा; धर्म नहीं, मोक्षमार्ग नहीं।

हे जीव! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, परमेश्वरता अपनी वस्तु में से ही प्रगट होती है। यदि ऐसे अवसर पर यथार्थ वस्तु को दृष्टि में न ले तो वस्तु के स्वरूप को जाने बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं हो सकता। वस्तु के जानने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। वस्तु में संसार नहीं है और वस्तु की प्रतीति होने पर मोक्षपर्याय की तैयारी की प्रतिध्वनि होने लगती है।

भगवन्! यह तेरे स्वभाव की बात है, एक बार हाँ तो कह! तेरे स्वभाव की स्वीकृति में से स्वभावदशा की अस्ति आयेगी; स्वभाव-सामर्थ्य का इन्कार मत कर! सब प्रकार से अवसर आ चुका है, अपने द्रव्य में दृष्टि करके देख!! जिस द्रव्य में से सादि-अनन्त

मोक्षदशा प्रगट होती है, उस द्रव्य की प्रतीति के बल से मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये छहों द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमते हैं। जिस वस्तु में से अपनी अवस्था आती है, उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होता है। परद्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा - ऐसी पराधीनदृष्टि के टूट जाने से और निजद्रव्य में दृष्टि रखने से राग की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु जीव, अकर्त्ता होकर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता -दृष्टा के बल से अस्थिरता को तोड़कर, सम्पूर्ण स्थिर होकर अल्पकाल में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, इसमें अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमबद्धपर्याय प्रयत्न के बिना नहीं होती। मोक्षमार्ग के प्रारम्भ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र, सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

बाह्य वस्तु का जो होना हो सो हो, इस प्रकार क्रमबद्धता का निश्चय वास्तव में तब सच्चा कहलाता है, जब बाह्य वस्तु से उदास होकर, सबका ज्ञातामात्र रह जाए। जो जीव अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानता है कि पर से अपने को सुख -दु:ख होता है, उसे क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है। ज्ञानस्वभाव के सन्मुख देखनेवाले को ही क्रमबद्धपर्याय का सच्चा ज्ञान होता है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्त गुण हैं। वे गुण पलटकर समय-समय पर एक के बाद एक अवस्था होती है। कोई भी समय अवस्था के बिना खाली नहीं जाता। केवलज्ञान और मोक्षदशा भी मेरे गुण में से क्रमबद्ध प्रगट होती है, इसमें कोई भी परचीज अंशमात्र भी कारण नहीं है; इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर, अपनी पर्याय प्रगट होने के लिए किसी परवस्तु पर लक्ष्य नहीं रहेगा और इसलिए किसी परवस्तु के प्रति राग-द्वेष करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि वह जीव समस्त परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टबुद्धि छोड़कर, आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है; ऐसा होने पर अपने में भी ऐसा संशयरूप विकल्प नहीं रहता कि 'मेरी पूर्ण शुद्धपर्याय कब प्रगट होगी?' क्योंकि तीन काल की क्रमबद्धपर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आ गया है और मोक्षमार्ग प्रतिक्षण सध ही रहा है।

तात्पर्य यह है कि जो स्वसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करता है, वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्तिगामी होता है, क्योंकि जिस समय जिस वस्तु की जो अवस्था होती जाती है, उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है। बस, वह ज्ञाता हो गया; ज्ञातारूप से रहकर वह अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का अर्थात् ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा का फल है।

क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञायकभाव का अर्थात् वीतराग-स्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय स्वसन्मुख पुरुषार्थ से हो सकता है। सम्यक् पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना मोक्षमार्ग की

क्रमबद्धपर्याय नहीं होती। जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं होता, वह अपने पुरुषार्थ को प्रारम्भ नहीं करता; इसलिए पुरुषार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नहीं होता। ज्ञान के पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करनेवाले की क्रमबद्धपर्याय निर्मल नहीं होगी, किन्तु विकारी होगी। चाहे क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो, वह यही है।

प्रश्न — यदि क्रमबद्धपर्याय जब जो होनी हो, तब वही होती है तो फिर विकारीभाव भी जब होना हों, तभी तो होते हैं?

उत्तर — अरे भाई! तेरा प्रश्न विपरीतता को लेकर उपस्थित हुआ है। विकार को जाननेवाले को ज्ञान की रुचि है या विकार की? विकार को यथार्थतया जानने का काम करनेवाला वीर्य / पुरुषार्थ तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य, विकार से हटकर स्वभाव की ओर जा रहा है; स्वभावसन्मुख ज्ञान, विकार की या पर की रुचि में कदापि नहीं अटकता, अपितु स्वभाव के बल से अल्पकाल में ही विकार का क्षय करता है। जिसे विकार की रुचि है, उसकी दृष्टि का बल विकार की ओर जाता है। 'जो होनी होती है वही होती है, मैं ज्ञाता हूँ' इस प्रकार किसका वीर्य स्वीकार करता है? यह स्वीकार करनेवाले के वीर्य में, पर में सुखबुद्धि नहीं होती किन्तु स्वभाव में ही सन्तोष होता है, ज्ञान की प्रतीति होती है।

जैसे किसी बड़े आदमी के यहाँ शादी का अवसर हो और वह सब को आचूल निमन्त्रण देकर विविध प्रकार के मिष्ठान्न जिमाये, इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर में आचूल निमन्त्रण है; 'मुक्ति के मण्डप में' सबको आमन्त्रण है, समस्त विश्व को आमन्त्रण है।

मुक्तिमण्डप के प्रीतिभोज में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि में उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते हैं, जिन्हें पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान! जो इस बात को स्वीकार करता है, उसकी मुक्ति निश्चित है। लीजिये! यह है मुक्तिमण्डप का प्रीतिभोज!!

अब, गाथा 321-322 में जो वस्तुस्वरूप बताया है, उसकी विशेष दृढ़ता के लिए 323 वीं गाथा में कहते हैं कि जो जीव पूर्व गाथा में कहे गये वस्तुस्वरूप को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें संशय करता है, वह मिथ्यादृष्टि है —

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥ 323॥

अर्थ - इस प्रकार निश्चय से सर्वद्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) तथा उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है, श्रद्धा करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता, शङ्का-सन्देह करता है, वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है-प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर, जिन द्रव्यों और उनकी अनादि-अनन्त काल की समस्त पर्यायों को आगम में कहा है, वे सब जिसके ज्ञान में और प्रतीति में जम गये हैं, वे '**सद्दिट्ठी सुद्धो**' अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं। पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि '**जो संकदि सो**

हु कुद्दिट्ठी' अर्थात् जो उसमें शङ्का करता है, वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है अर्थात् सर्वज्ञ को नहीं माननेवाला है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने इन 321-322-323 वीं गाथाओं में जैनधर्म का गूढ़ रहस्य खोल दिया है। सम्यग्दृष्टि जीव भलीभाँति जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है। सर्वज्ञदेव और सम्यग्दृष्टि में इतना ही अन्तर है कि सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय को प्रत्यक्षज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्यायों को आगम प्रमाण से प्रतीति में लेता है अर्थात् परोक्षज्ञान से निश्चय करता है। सर्वज्ञ के वर्तमान राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं, सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में भी राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सर्वज्ञ भगवान केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञान से नहीं जानते, तथापि वे श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करते हैं; उनका ज्ञान भी निःशङ्क है।

पर्याय, प्रत्येक वस्तु का धर्म है। वस्तु स्वतन्त्रतया अपनी पर्यायरूप होती है। जिस समय जो पर्याय होती है, उसको मात्र जानना ही ज्ञान का कर्तव्य है। जानने के उपरान्त 'यह पर्याय यों कैसे हुई?' ऐसी शङ्का करनेवाले को वस्तु के स्वतन्त्र 'पर्यायधर्म' का और ज्ञान के कार्य का पता नहीं है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है। जानने में 'यह कैसे हुआ?' इस प्रकार की शङ्का को स्थान ही कहाँ है? शङ्का करना ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है किन्तु 'जो पर्याय होती है, वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है,' इसलिए जैसी होती है, उसी प्रकार उसे जानना ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का

निर्णय करके ज्ञानी सबको निःशङ्करूप से जानता है। ऐसे ज्ञान के बल से वह केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोड़कर अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्रगट कर लेगा।

जो जीव, वस्तु की स्वतन्त्र क्रमबद्धपर्याय को नहीं मानता और यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, उसमें परिवर्तन कर सकता हूँ, और यह पर मुझे राग-द्वेष कराता है', उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नहीं है तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है, उसमें मैं परिवर्तन कर दूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान को और उनकी श्रीमुखवाणी के / दिव्यध्वनि के न्यायों को नहीं मानता, वह अवश्य मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव, तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की पर्यायें प्रगटरूप में उसी में स्वयं होती हैं, तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है, वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी है, मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। (जीव) जिस ओर का पुरुषार्थ करता है, उस ओर की क्रमबद्धपर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इसमें तो नियत आ गया, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करनेवाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है, वह अपने सर्वज्ञस्वभाव को ही निश्चित करता है। जो एकान्त पर के लक्ष्य से नियत की बात करता है, वह एकान्तवादी,

बातूनी है और जो अपने स्वभाव के लक्ष्य से स्वोन्मुख होकर, स्वभाव की एकता करके, राग से भिन्न ज्ञायक हो गया है, उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत भी समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है, वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ में नियत भी आ जाता है। जहाँ सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है, वहाँ मोक्ष –पर्याय का नियत भी नहीं है।

अहो! महासन्त मुनिश्वरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत बहाया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, उन्होंने पवित्र धर्म को सहारा देकर स्थिर रखा है। एक–एक आचार्यदेव ने अद्भुत कार्य किये हैं। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए, परीषहों को जीतकर परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गूँज रही है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके आचार्यों ने अनेकानेक जीवों पर अपार उपकार किया है। उनकी रचनाएँ देखो, कितने गम्भीर रहस्य भरे हैं उनमें! यह तो सत्य की घोषणा है। इसके संस्कार अपूर्व वस्तु है और इसे समझना मानों मुक्ति को वरण करने का श्रीफल है। जो इसे समझ लेता है, उसका मोक्ष निश्चित है।

प्रश्न — जो होना होता है, सो होता है, ऐसा मानने में अनेकान्तस्वरूप कहाँ आया?

उत्तर — जो होना होता है, वह वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझ से होता है – यह जानकर, पर से हटकर, स्व–सन्मुख होने का है, उसमें अनेकान्त स्वरूप है। 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है, मेरी पर्याय पर में से नहीं आती' – इस प्रकार

अनेकान्त है। तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य से होती है, मैं उसकी पर्याय को नहीं करता' - इस प्रकार अनेकान्त है। 'जो होना होता है, वही होता है' - यह जानकर, अपने द्रव्य के सन्मुख होना चाहिए परन्तु 'जो होना होता है सो होता है' इस प्रकार जो मात्र परसन्मुख देखता है, अपने द्रव्य की पर्याय जहाँ से आती है, उसकी ओर नहीं देखता; परलक्ष्य को छोड़कर स्वलक्ष्य नहीं करता, वह एकान्तवादी है।

प्रश्न — भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पाँच समवाय कहे हैं और आप मात्र पुरुषार्थ... पुरुषार्थ ही रटा करते हो तो फिर उसमें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर — जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है, वहाँ स्वयं अन्य चारों समवाय अवश्य होते हैं।

पाँच समवायों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है -

1. मैं पर का कुछ करनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ, मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है; इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि को तोड़ना, वह **पुरुषार्थ** है।

2. स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है, वह **स्वभाव** है।

3. स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्धपर्याय उस समय प्रगट होनी थी, वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई, वह **नियति** है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी, वही पर्याय प्रगट हुई है। बस, स्वभाव में से जिस

समय जो दशा प्रगट हुई, वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करनेवाले जीव के स्वभाव में जो नियति है, वही प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती।

4. स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई, वही उस वस्तु का **स्वकाल** है। पहले पर की ओर झुकता था, उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ, यही स्वकाल है।

5. जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुए, तब निमित्तरूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह **कर्म** है।

इसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पाँचवाँ समवाय नास्तिरूप हैं, वह निमित्त से सम्बद्ध है। यदि पाँचवाँ समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है कि परोन्मुखता से हटकर, स्वभाव की ओर झुकने पर, प्रथम चारों का अस्तिरूप में और कर्म का नास्तिरूप में; इस प्रकार आत्मा में पाँचों समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् स्वसन्मुख पुरुषार्थ में पाँचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया, तब विकारीभाव के लिए कर्म निमित्त कहलाया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया, तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपने में पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रगट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा बदलनी न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जब जीव निजलक्ष्य करके चार समवायरूप परिणमित होता है और कर्म की ओर लक्ष्य करके परिणमित नहीं होता अर्थात् उदय में युक्त नहीं होता, तब कर्म की निर्जरा हो जाती

है। जब जीव, स्वसन्मुख परिणमित होता है, तब भले ही कर्म उदय में हो, किन्तु जीव के उस समय के शुद्धपरिणमन में कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं अपने में एकमेक हुआ और कर्म की ओर नहीं गया, यही कर्म की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा में एक समय की स्वसन्मुखदशा में पाँचों समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है, तब उसके पाँचों ही समवाय एक ही समय में होते हैं। स्व की प्रतीति में पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसे वस्तुस्वरूप की प्रतीति में केवलज्ञान-सन्मुख का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न — जीव, केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव को केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा?

उत्तर — अरे, तेरी शङ्का बड़ी विपरीत है! तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नहीं है; इसलिए तेरी दृष्टि कर्म की ओर ढली हुई है। जो ऐसी शङ्का करता है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट नहीं हुआ तो?' वह मूर्ख है। इसी प्रकार 'मैं मोक्ष का पुरुषार्थ करूँ और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो?' जो ऐसी शङ्का करता है, उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

कर्म की क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है, तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है। 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो?' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रलम्बित हुई है और ऐसी शङ्का करनेवाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। तुझे अपने

आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नहीं? में अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और जब अपनी केवलज्ञान दशा प्रगट करता हूँ, तब घातियाकर्म रहते ही नहीं – ऐसा नियम है। **जिसे उपादान की श्रद्धा हो, उसे निमित्त की शङ्का नहीं होती और जो निमित्त की शङ्का में अटक गया है, उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया। उपादान, निश्चय है और निमित्त, व्यवहार है, दोनों की सन्धि है।**

निश्चयनय सम्पूर्ण द्रव्य को लक्ष्य में लेता है। सम्पूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कम की स्वीकृति ही कहाँ है? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान की प्रतीति है; इसलिए क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का फल केवलज्ञान ही है।

निश्चय से तो केवलज्ञानी सम्पूर्ण आत्मज्ञ है, व्यवहार से सर्वज्ञ है। सम्पूर्ण आत्मज्ञ होकर सबके जानने से सर्वज्ञ कहलाते हैं आत्मज्ञता के बिना सर्वज्ञता हो ही नहीं सकती।

सर्वज्ञ सभी वस्तुओं की पर्यायों के क्रम को जानते हैं, इसलिए जो साधक यह प्रतीति में लाता है कि 'सभी वस्तुओं की क्रमबद्धपर्याय है' वह जीव सर्वज्ञता को स्वीकार करता है और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, वह आत्मज्ञ ही है क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नहीं होती। जो जीव, वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्धपर्यायों को नहीं मानता, वह सर्वज्ञता को नहीं मानता और जो सर्वज्ञता को नहीं मानता, वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होती हैं, वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात

हैं, उसी प्रकार होती हैं। जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है, उसे क्रमबद्ध पर्याय की और सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है; आत्मज्ञ जीव, सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय प्रवाहबद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है, दूसरी ओर जगत के सर्वद्रव्यों की पर्याय अपने-अपने में क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अरे! इसमें एक-दूसरे का क्या कर सकता है? समस्त द्रव्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं। बस! ऐसी प्रतीति करने पर ज्ञान पर के कर्तृत्व से अलग ही रह गया; सब के प्रति राग-द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया, यही धर्म है।

परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकाररूप में या शुद्धरूप में जीव स्वयं ही निजपर्याय से परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या? परवस्तु का और निज वस्तु का परिणमन बिल्कुल भिन्न ही है; इसलिए जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है, निमित्त कहीं जीव की राग-द्वेषादि पर्याय में घुस नहीं जाता; इसलिए निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है, वह तो ज्ञान करने के लिए है; ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव, निमित्त को जानता भी है, परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नहीं होता। उपादान की क्रिया में निमित्त का अभाव है। ●

प्रकरण - 2

वीतरागी सन्तों का उपदेश

आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है, किन्तु अनादि से स्वरूप के अनाभ्यास के कारण कठिन मालूम होता है। यदि कोई यथार्थ रुचिपूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है।

कोई कितना ही चतुर कारीगर हो, तथापि वह दो घड़ी में मकान तैयार नहीं कर सकता किन्तु यदि आत्मस्वरूप की पहचान करना चाहे तो वह दो घड़ी में भी हो सकती है। आठ वर्ष का बालक अनेक मन का बोझ नहीं उठा सकता, किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा आत्मा की प्रतीति करके केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्व-परिणमन में आत्मा सम्पूर्ण स्वतन्त्र है किन्तु पर में कुछ भी करने के लिए आत्मा में किञ्चित्मात्र सामर्थ्य नहीं है। आत्मा में इतना अपार स्वाधीन पुरुषार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चले तो दो घड़ी में सातवें नरक जा सकता है और यदि सीधा चले तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है।

परमागम श्रीसमयसारजी में कहा है कि – 'यदि यह आत्मा दो घड़ी के लिए अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पुद्गलद्रव्य से भिन्न अनुभव करे अर्थात् उसमें लीन हो जाए; परीषहों के आने पर भी नहीं डिगे तो चार घातिया कर्मों का नाश करके, केवलज्ञान को प्राप्त

करके, मोक्षदशा की प्राप्ति कर सकता है। जब आत्मानुभव की ऐसी महिमा है तो मिथ्याभाव का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना सुलभ ही है; इसलिए श्री परमगुरुओं ने इसी का उपदेश प्रधानता से दिया है।'

श्री समयसार–प्रवचनों में आत्मा की पहचान करने के लिए बारम्बार प्रेरणा की गई है, यथा –

● चैतन्य के विलासरूप आनन्द को भीतर में देख! अन्तर में उस आनन्द के देखते ही तू शरीरादि के मोह को तत्काल छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् झट से छोड़ सकेगा। यह बात सरल है क्योंकि यह तेरे स्वभाव की बात है।

● सातवें नरक की अनन्त वेदना में पड़े हुए जीवों ने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है, यहाँ पर सातवें नरक जैसी तो पीड़ा नहीं है न? रे जीव! मनुष्यभव प्राप्त करके रोना क्यों रोया करता है? अब सत्समागम से आत्मा की पहचान करके आत्मानुभव कर! इस प्रकार समयसार–प्रवचनों में बारम्बार–हजारों बार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है। जैनशास्त्रों का ध्येय बिन्दु ही आत्मस्वरूप की पहिचान कराना ही है।

'अनुभवप्रकाश' ग्रन्थ में आत्मानुभव की प्रेरणा करते हुए कहा है कि कोई यह जाने कि आज के समय में स्वरूप की प्राप्ति कठिन है तो समझना चाहिए कि वह स्वरूप की चाह को मिटानेवाला बहिरात्मा है...। जब फुरसत होती है, तब विकथा करने लगता है, उस समय यदि वह स्वरूप की चर्चा–अनुभव करे तो उसे कौन रोकता है? यह कितने आश्चर्य की बात है कि वह परपरिणाम

को तो सुगम और निजपरिणाम को विषम समझता है! स्वयं देखता है, जानता है; तथापि यह कहते हुए लज्जा भी नहीं आती कि आत्मा देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता... ! जिसका जयगान भव्य जीव गाते हैं, जिसकी अपार महिमा को जानने से महा भव-भ्रमण दूर हो जाता है और परम आनन्द होता है - ऐसा यह समयसार अविकार (शुद्ध आत्मस्वरूप) जान लेना चाहिए।

यह जीव अनादि काल से अज्ञान के कारण परद्रव्य को अपना करने के लिए प्रयत्न कर रहा है और शरीरादि को अपना बनाकर रखना चाहता है, परन्तु किसी भी परद्रव्य का परिणमन जीव के आधीन नहीं है; इसलिए अनादि से जीव के परिश्रम अर्थात् अज्ञानभाव के फल में, एक परमाणु भी जीव का नहीं हुआ। अनादि काल से देहदृष्टिपूर्वक शरीर को अपना मान रखा है किन्तु अभी तक एक भी रजकण न तो जीव का हुआ है और न होनेवाला है; दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं। जीव यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझना चाहे तो वह स्वोन्मुखी पुरुषार्थ के द्वारा अल्पकाल में समझ सकता है। जीव अपने स्वरूप को जब समझना चाहे, तब समझ सकता है। स्वरूप के समझने में अनन्त काल नहीं लगता और न इसमें दूसरों की आवश्यकता रहती है; इसलिए यथार्थ समझ सुलभ है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रुचि के अभाव में ही जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को नहीं समझ पाया है; इसलिए आत्मस्वरूप समझने की रुचि करो और ज्ञान करो, ऐसा वीतरागी सन्तों का उपदेश है। ●

प्रकरण - 3

उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता

उपादान है; निमित्त है; दोनों का अस्तित्व होते हुए भी दोनों स्वतन्त्र हैं, अपना-अपना कार्य स्वयं करते हैं – यह बात इस प्रवचन में अनेक उदाहरणों के द्वारा समझायी है।

उपादान-निमित्त

उपादान किसे कहना चाहिए और निमित्त किसे कहना चाहिए?

आत्मा की शक्ति को उपादान कहते हैं और पर्याय की वर्तमान योग्यता को भी उपादान कहते हैं। जिस अवस्था में कार्य होता है, उस समय की वह अवस्था स्वयं ही उपादानकारण है; और उस समय उसे अनुकूल परद्रव्य निमित्त है। निमित्त के कारण उपादान में कुछ नहीं होता। यहाँ उपादान-निमित्त सम्बन्धी विविध प्रकार की मिथ्यामान्यताओं को दूर करने के लिए अनेक दृष्टान्तों के द्वारा उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त समझाया जा रहा है।

गुरु के निमित्त से ज्ञान नहीं होता

आत्मा में जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मा की पर्याय की शक्ति से होता है या शास्त्र के निमित्त से होता है?

आत्मा की पर्याय की योग्यता से ही ज्ञान होता है, निमित्त से ज्ञान नहीं होता। जिस समय आत्मा की पर्याय में पुरुषार्थ के द्वारा

सम्यग्ज्ञान प्रगट करने की योग्यता होती है और आत्मा सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, उस समय गुरु को निमित्त कहा जाता है किन्तु वह ज्ञान, गुरु से नहीं हुआ है। इस प्रकार दोनों की स्वतन्त्रता है।

जब जीव में प्रथम सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ होता है, तब गुरु की देशना का योग होता ही है; किन्तु जब तक जीव का लक्ष्य वाणी की ओर है, तब तक राग है और जब जीव, वाणी का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव का निर्णय करता है, तब सम्यग्ज्ञान होता है और गुरु को उसका निमित्त कहा जाता है। गुरु के बहुमान से शिष्य यह भी कहता है कि मुझे गुरु से ज्ञान हुआ। गुरु ने बड़ा उपकार किया।

यह कहना कि मुझे 'गुरु से ज्ञान हुआ है', विनय का व्यवहार है।

प्रश्न — ज्ञान तो स्वयं से ही हुआ है, गुरु से नहीं हुआ, यह जानते हुए भी यों कहना कि गुरु से ज्ञान हुआ है, क्या कपट नहीं कहलायेगा?

उत्तर — व्यवहार में ऐसा ही कहा जाता है, यह कपट नहीं किन्तु यथार्थ सिद्धान्त है। गुरु के बहुमान का शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है, इसलिए निमित्त में आरोप किया जाता है।

प्रश्न — गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है, वह तो ठीक है किन्तु यह क्यों कहा जाता है कि 'गुरु से ज्ञान हुआ है?'

उत्तर — बहुमान का विकल्प उठा है, इसलिए निमित्त में आरोप करके व्यवहार से वैसा कहा जाता है। आरोप की भाषा ऐसी ही होती है किन्तु वास्तव में गुरु से ज्ञान नहीं हुआ है। यदि गुरु से ज्ञान होवे तो सभी को ज्ञान हो जाता। जो स्वयं पुरुषार्थ से ज्ञान करता है, उसी के लिए गुरु को निमित्तरूप में माना जाता है यही सिद्धान्त है।

मिट्टी में घटरूप पर्याय होने की योग्यता सदा की नहीं, उसी समय की है।

मिट्टी से घड़ा बनता है, वह उसकी वर्तमान पर्याय की उस समय की योग्यता से ही बना है, वह कुम्हार के कारण नहीं बना है। कोई यह कहे कि मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता तो सदा विद्यमान है किन्तु जब कुम्हार ने बनाया, तब घड़ा बना, तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता सदा नहीं है किन्तु वर्तमान उसी समय की पर्याय में यह योग्यता है और जिस समय पर्याय में योग्यता होती है, उस समय ही अपने उपादान से घड़ा होता है। अन्य पदार्थों से मिट्टी को अलग पहचानने के लिए द्रव्यार्थिकनय से यह कहा जाता है कि 'मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता है' किन्तु वास्तव में तो जब घड़ा होता है, उसी समय उसमें घड़ा होने की योग्यता थी, उससे पूर्व उसमें घड़ा होने की योग्यता नहीं थी किन्तु दूसरी पर्यायें होने की योग्यता थी।

शिष्य की श्रद्धा और गुरु की स्वतन्त्रता

आत्मा पुरुषार्थ से सच्ची श्रद्धा करता है, यह उसकी पर्याय की वर्तमान योग्यता है और गुरु अपने कारण से उपस्थित है। ऐसा नहीं है कि जीव ने श्रद्धा की, इसलिए गुरु को आना पड़ा और ऐसा भी नहीं है कि गुरु आये, इसलिए उनके कारण जीव को श्रद्धा हुई; दोनों अपने कारण से हैं।

यदि ऐसा माने कि गुरु आये, इसलिए श्रद्धा हुई, तो गुरु कर्ता और शिष्य की श्रद्धा-पर्याय उनका कार्य; इस प्रकार दो भिन्न द्रव्यों में कर्ता-कर्मपना हो जाएगा। अथवा ऐसा माने कि जीव ने श्रद्धा की,

इसलिए गुरु आ गये, तो श्रद्धा करना कारण और गुरु का आना उसका कार्य कहलायेगा; इस प्रकार दो द्रव्यों में कर्ता-कर्मपना हो जाएगा, जो कि सिद्धान्त विरुद्ध है। जो श्रद्धा हुई, वह श्रद्धा की पर्याय के कारण हुई और जो गुरु आये, वह गुरु की पर्याय के कारण से आये। इस प्रकार दोनों स्वतन्त्र हैं।

शास्त्र और ज्ञान की स्वतन्त्रता

शास्त्र के सामने आ जाने से ज्ञान हो गया हो। ऐसी बात नहीं है किन्तु उस समय ज्ञान की अपनी योग्यता है। उस क्षण जीव अपनी शक्ति से ज्ञानरूप परिणमन करता है और शास्त्र, निमित्त के रूप में विद्यमान है। ज्ञान होना हो, इसलिए शास्त्र को आना ही पड़े - ऐसी बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि शास्त्र आया, इसलिए ज्ञान हुआ है।

आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव का विशेषरूप परिणमन होकर ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान, निमित्त के अवलम्बन के बिना और राग के आश्रय के बिना सामान्य ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही होता है।

कुम्हार और घड़ा दोनों की स्वतन्त्रता

मिट्टी की जिस समय की पर्याय में घड़ा बनने की योग्यता है, उसी समय वह अपने उपादान से ही घड़े के रूप में परिणमती है, और उस समय कुम्हार की उपस्थिति स्वयं उसके कारण से रहती है अथवा नहीं भी रहती, क्योंकि बाद में कुम्हार की उपस्थिति नहीं होते हुए भी मिट्टी में घड़ारूप परिणमन चलता ही रहता है।

जब घड़ा बनता है, तब उस समय कुम्हार आदि नहीं हों - ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कुम्हार आया, इसलिए मिट्टी की अवस्था

घड़ारूप हो गई – यह बात भी नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि घड़ा बनना था, इसलिए कुम्हार को आना पड़ा। वस्तुतः मिट्टी में उस समय की स्वतन्त्र पर्याय की योग्यता से घड़ा बना है और उस समय कुम्हार अपनी पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से उपस्थित था किन्तु कुम्हार ने घड़ा नहीं बनाया; कुम्हार और घड़ा दोनों के परिणमन स्वतन्त्र हैं।

एक पर्याय में दो प्रकार की भिन्न-भिन्न योग्यता नहीं होती

प्रश्न — जब तक कुम्हाररूप निमित्त नहीं था, तब तक मिट्टी में से घड़ा क्यों नहीं बना?

उत्तर — यहाँ यह विशेष विचारणीय है कि जिस समय मिट्टी में से घड़ा नहीं बना, उस समय क्या उसमें घड़ा बनने की योग्यता थी? अथवा उसमें घड़ा बनने की योग्यता ही नहीं थी?

यदि ऐसा माना जाए कि जब 'मिट्टी में से घड़ा नहीं बना था तब उस समय भी मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता थी, परन्तु निमित्त नहीं मिला, इसलिए घड़ा नहीं बना,' तो यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि जब मिट्टी में घड़ारूप अवस्था नहीं हुई, तब उसमें पिण्डरूप अवस्था है और उस समय वह अवस्था होने की ही उसकी योग्यता है। जिस समय मिट्टी की पर्याय में पिण्डरूप अवस्था की योग्यता होती है, उसी समय उसमें घड़ारूप अवस्था की योग्यता नहीं हो सकती क्योंकि एक ही पर्याय में एक साथ भिन्न-भिन्न दो प्रकार की योग्यताएँ कदापि नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्व का है; अतः इसे प्रत्येक जगह लागू करना चाहिए।

इस सिद्धान्त से यह निश्चित हुआ कि मिट्टी में जिस समय पिण्डरूप अवस्था थी, उस समय उसमें घड़ारूप अवस्था की योग्यता ही नहीं थी; इसलिए उससे घड़ा नहीं बना, परन्तु यह बात मिथ्या है कि मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता तो थी, परन्तु कुम्हार नहीं था, इसलिए घड़ा नहीं बना।

जीव निमित्तों को मिला या हटा नहीं सकता मात्र अपना लक्ष्य बदल सकता है।

जीव अपने में शुभभाव कर सकता है किन्तु शुभभाव करने से वह बाहर के शुभ निमित्तों को प्राप्त कर सके अथवा अशुभ निमित्तों को दूर कर सके – यह बात नहीं है। जीव स्वयं अशुभ निमित्तों से अपना लक्ष्य हटाकर शुभ निमित्तों का लक्ष्य कर सकता है किन्तु निमित्तों को निकट लाने अथवा दूर करने में वह समर्थ नहीं है।

किसी जीव ने जिनमन्दिर अथवा किसी अन्य धर्मस्थान का शिलान्यास करने का शुभभाव किया; इसलिए जीव के भाव के कारण बाह्य में शिलान्यास की क्रिया हुई – ऐसा नहीं है। जीव निमित्त का लक्ष्य कर सकता है अथवा लक्ष्य छोड़ सकता है, किन्तु वह निमित्तरूप परपदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे समझना ही भेदज्ञान है।

पञ्च महाव्रत के राग और शुद्धचारित्रदशा की भिन्नता एवं चारित्र व वस्त्रत्याग दोनों की स्वतन्त्रता

जिसे आत्मा की निर्मल, वीतरागचारित्रदशा होती है, उसके वह दशा होने से पूर्व चारित्र अङ्गीकार करने का विकल्प उत्पन्न होता है। जो विकल्प उत्पन्न हुआ, वह तो राग है, उसके कारण

वीतरागभावरूप चारित्र प्रगट नहीं होता; चारित्र तो उसी समय स्वरूप की लीनता से प्रगट हुआ है।

चारित्रदशा में मुनि के शरीर की नग्नदशा ही होती है। आत्मा को चारित्र अङ्गीकार करने का विकल्प उत्पन्न हुआ उसके कारण, अथवा चारित्रदशा प्रगट की इसलिए शरीर से वस्त्र हट गये - ऐसी बात नहीं है, किन्तु उस समय वस्त्रों के परमाणुओं की अवस्था वैसी ही योग्यतावाली थी; इसलिए वे हट गये हैं। आत्मा ने विकल्प किया, इसलिए उस विकल्प के आधीन होकर वस्त्र छूट गये, यदि ऐसा हो तो विकल्प कर्ता हुआ और वस्त्र छूटना उसका कर्म हुआ अर्थात् चेतन व जड़ दोनों द्रव्य एक हो गये। तथा ऐसा भी नहीं है कि वस्त्र छूटना था, इसलिए जीव को विकल्प उठा क्योंकि यदि ऐसा हो तो वस्त्र की पर्याय कर्ता और विकल्प उसका कर्म कहलायेगा और इस प्रकार दो द्रव्य एक हो जाएँगे।

वास्तविकता यह है कि जब स्वभाव के भानपूर्वक चारित्र का विकल्प उत्पन्न होता है और जीव, चारित्र ग्रहण करता है, तब वस्त्र छूटने का प्रसङ्ग सहज ही उसके कारण से होता है किन्तु 'मैंने वस्त्रों का त्याग किया' अथवा 'मेरे विकल्प से वस्त्र छूट गये' - ऐसी कर्त्तत्वबुद्धि धर्मी के नहीं है। चारित्रदशा में पञ्च महाव्रतादि का विकल्प होता है किन्तु उस विकल्प के आश्रय से चारित्रदशा नहीं होती।

चारित्र में पञ्च महाव्रत के विकल्प को निमित्त कहा जाता है। वास्तव में विकल्प तो राग है, उससे स्वभावोन्मुख नहीं हुआ जाता, किन्तु जब जीव, विकल्प को छोड़कर स्वभावसन्मुख होता है, तब

विकल्प को निमित्त कहा जाता है। पञ्च महाव्रतादि के विकल्प को चारित्र का निमित्त कब कहा जाता है ? यदि स्वभाव में लीनता का पुरुषार्थ करके चारित्रदशा प्रगट करे तो विकल्प को उसका निमित्त कहा जा सकता है।

यह मान्यता मिथ्या है कि पञ्च महाव्रत के विकल्प के आश्रय से चारित्र प्रगट होता है तथा मैं व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र के परिणाम करूँ, तो उससे निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र प्रगट होते हैं - यह मान्यता भी मिथ्यात्व है।

समय-समय की स्वतन्त्रता और भेदज्ञान

यह प्रत्येक वस्तु के स्वतन्त्र स्वभाव की बात है। स्वभाव की स्वतन्त्रता को न समझे और यह माने कि 'निमित्त से कार्य होता है' तो वहाँ सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान नहीं है और सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के बिना शास्त्र का पठन-पाठन सच्चा नहीं है, व्रत सच्चे नहीं हैं, त्याग सच्चा नहीं है। प्रत्येक वस्तु में समय-समय की पर्याय की स्वतन्त्रता है। प्रत्येक पदार्थ में उसी के कारण से अर्थात् समय-समय की उसकी पर्याय की योग्यता से कार्य होता है। पर्याय की योग्यता उपादानकारण है और उस समय, उस कार्य के लिए अनुकूलता का आरोप जिस पर आ सकता है - ऐसी योग्यतावाली दूसरी वस्तु को निमित्त कहा जाता है; किन्तु उस निमित्त के कारण वस्तु में कुछ परिवर्तन नहीं होता - ऐसी उपादान-निमित्त की भिन्नता की यथार्थ प्रतीति ही भेदज्ञान है।

आत्मा और जड़ सब की पर्याय स्वतन्त्र है। जीव को पढ़ने का विकल्प हुआ, इसलिए पुस्तक हाथ में आ गयी - ऐसी बात नहीं है

अथवा पुस्तक आ गई, इसलिए विकल्प उत्पन्न हुआ - ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान होना था, इसलिए पढ़ने का विकल्प उठा - ऐसा भी नहीं है और पढ़ने का विकल्प उठा, इसलिए ज्ञान हुआ - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान, पुस्तक और विकल्प तीनों ने अपना-अपना कार्य किया है।

वीतरागी भेदविज्ञान यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ, प्रतिसमय अपने स्वतन्त्र उपादान से ही कार्य करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा पराधीन नहीं है कि निमित्त आये तो उपादान का कार्य हो; उपादान का कार्य स्वतन्त्र अपनी ही सामर्थ्य से ही होता है।

सूर्य का उदय और छाया से धूप - दोनों की स्वतन्त्रता

जिस समय परमाणु की अवस्था में छाया से धूप होने की योग्यता होती है, उसी समय धूप होती है और उस समय सूर्य इत्यादि निमित्तरूप हैं। यह बात मिथ्या है कि सूर्य का उदय हुआ, इसलिए छाया से धूप हो गयी अथवा छाया में से धूप अवस्था होनी थी, इसलिए सूर्य इत्यादि को आना पड़ा - यह बात भी मिथ्या है। सूर्य का उदय हुआ - यह उसकी उस समय की योग्यता है और जो परमाणु छाया से धूप के रूप में हुए हैं - यह उनकी उस समय की वैसी ही योग्यता है।

केवलज्ञान और वज्रवृषभनाराचसंहनन की स्वतन्त्रता

जब केवलज्ञान होता है, तब वज्रवृषभनाराचसंहनन ही निमित्त होता है, अन्य संहनन नहीं होते, किन्तु ऐसा नहीं है कि वज्रवृषभ-नाराचसंहनन निमित्तरूप है, इसलिए केवलज्ञान हुआ और ऐसा भी नहीं है कि केवलज्ञान के कारण परमाणुओं को वज्रवृषभ

-नाराचसंहननरूप होना पड़ा। जहाँ जीव की पर्याय में केवलज्ञान के पुरुषार्थ की जागृति होती है, वहाँ शरीर के परमाणुओं में वज्रवृषभ -नाराचसंहननरूप अवस्था उनकी ही योग्यता से होती है; दोनों की योग्यताएँ स्वतन्त्र हैं, किसी के कारण कोई नहीं है।

जब जीव के केवलज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होती है, तब शरीर के परमाणुओं में वज्रवृषभनाराचसंहननरूप अवस्था की ही योग्यता होती है - ऐसा सुमेल स्वभाव से ही है, कोई एक दूसरे के कारण नहीं है।

पेट्रोल और मोटर - दोनों की स्वतन्त्रता

कोई मोटर चली जा रही हो और उसकी पेट्रोल की टङ्की के फूट जाने से उसमें से पेट्रोल निकल जाए और चलती हुई मोटर रुक जाए, तो वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि पेट्रोल निकल गया है, इसलिए मोटर रुक गयी है। जिस समय मोटर के परमाणुओं में गतिरूप अवस्था की योग्यता होती है, उस समय वह गति करती है। मोटर का प्रत्येक परमाणु अपनी स्वतन्त्र क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गमन करता है; इसलिए यह बात ठीक नहीं है कि पेट्रोल निकल गया, इसलिए मोटर की गति रुक गई। जिस क्षेत्र में जिस समय उसके रुकने की योग्यता थी, उसी क्षेत्र में और उसी समय मोटर रुकी है।

जीव, वाणी का कर्ता नहीं

जीव को बोलने का विकल्प-राग हुआ, इसलिए वाणी बोली गयी - ऐसा नहीं है और वाणी बोली जानेवाली थी, इसलिए विकल्प हुआ - ऐसा भी नहीं है। यदि जीव के राग के कारण वाणी बोली जाती हो तो राग कर्ता और वाणी उसका कर्म कहलायेगा और यदि

ऐसा हो कि वाणी बोली जानेवाली थी, इसलिए राग हुआ तो वाणी के परमाणु कर्ता और राग उसका कर्म कहलायेगा, परन्तु राग तो जीव की पर्याय है और वाणी परमाणु की पर्याय है, उनमें कर्ता-कर्म भाव कैसे होगा ? यदि जीव की पर्याय की योग्यता हो तो राग होता है और वाणी उन परमाणुओं का उस समय का सहज परिणाम है। जब परमाणु स्वतन्त्रतया वाणीरूप परिणमित होते हैं, तब जीव के राग हो तो उसे निमित्त कहा जाता है। केवली भगवान के वाणी होती है, तथापि राग नहीं होता। (इसलिए राग वाणी का नियमरूप निमित्त भी नहीं है।)

शरीर का गमन और जीव की इच्छा - दोनों की स्वतन्त्रता

जीव इच्छा करता है, इसलिए शरीर चलता है - यह बात नहीं है और शरीर चलता है, इसलिए जीव को इच्छा होती है - ऐसा भी नहीं है। जब शरीर के परमाणुओं में क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गति होती है, तब किसी जीव के अपनी अवस्था की योग्यता से इच्छा होती है और किसी के नहीं भी होती है। केवली के शरीर की गति होने पर भी इच्छा नहीं होती। अतः दोनों स्वतन्त्र हैं।

विकल्प और ध्यान - दोनों की स्वतन्त्रता

चैतन्य के ध्यान का विकल्प उठता है, वह राग है। उस विकल्परूपी निमित्त के कारण ध्यान जमता हो - ऐसी बात नहीं है, किन्तु जहाँ ध्यान जमता हो, वहाँ पहले विकल्प होता है। विकल्प के कारण ध्यान नहीं होता और ध्यान के कारण विकल्प नहीं होता। जिस पर्याय में विकल्प था, वह उस पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से था और जिस पर्याय में ध्यान जमा है, वह उस पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से जमा है।

सम्यक्नियतिवाद अर्थात् सर्वज्ञवाद और उसका फल

प्रश्न — यह तो नियतिवाद हो गया?

उत्तर — यह सम्यक्नियतिवाद है, मिथ्यानियतिवाद नहीं है। सम्यक्नियतिवाद का क्या अर्थ है? यही कि जिस पदार्थ में, जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस निमित्त से, जैसा होना है, वैसा होता ही है, उसमें किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है – ऐसा ज्ञान में निर्णय करना, सम्यक्नियतिवाद है और उस निर्णय में ज्ञानस्वभाव की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

जिस ज्ञान ने यह निर्णय किया कि सभी नियति है, उस ज्ञान में यह भी निर्णय हो गया कि किसी भी द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन करना या राग-द्वेष करना मेरा कार्य नहीं है। इस प्रकार नियत का निर्णय करने पर 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ' – ऐसा अहंकार दूर हो गया और ज्ञान, पर से उदासीन होकर, स्वभावसन्मुख हो गया। अब, राग के होने पर भी उसका निषेध करके, ज्ञान, द्रव्यस्वभाव की ओर सन्मुख होता है। जब पर्याय को जानता है, तब ज्ञान में ऐसा विचार करता है कि मेरी क्रमबद्धपर्यायें मेरे द्रव्य में से प्रगट होती हैं। त्रिकाल द्रव्य ही एक के बाद एक पर्याय को द्रवित करता है। वह त्रिकाल द्रव्य, रागस्वरूप नहीं है; इसलिए जो राग हुआ है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। इस प्रकार जिसने अपने ज्ञान में द्रव्यस्वभाव का निर्णय किया, उस जीव का ज्ञान अपने शुद्ध स्वभाव के सन्मुख होता है और उसको सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं; वह पर से उदासीन हुआ है। राग का अकर्ता होकर, पर से तथा विकार से हटकर, उसकी बुद्धि ज्ञानस्वभाव में ही झुक गयी है; यह सम्यक् नियतिवाद का और सर्वज्ञ के निर्णय का

फल है। इसमें ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वीकृती है, किन्तु जो जीव एकान्तनियतिवाद को मानता है अर्थात् नियति के निर्णय में अपना जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है, उसका स्वीकार नहीं करता और स्वभावसन्मुख नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है और उसका नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व का भेद है, इसलिए वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

सम्यक्नियतिवाद में पाँचों समवाय

जो अज्ञानी यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते, उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो एकान्त नियतिवाद है किन्तु इस नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करने पर अपने केवलज्ञान का निर्णय हो जाता है। अस्थिरता का जो विकल्प उठता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है; इस प्रकार राग का कर्तृत्व उड़ जाता है। ऐसे सम्यक्नियतिवाद की श्रद्धा में पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

पहले तो स्वभाव का ज्ञान और श्रद्धा की, वह **पुरुषार्थ**;

उसी समय जो निर्मलपर्याय प्रगट होनी नियत थी, वही पर्याय प्रगटी है, यह **नियत**;

उस समय जो पर्याय प्रगट हुई, वही **स्वकाल**;

जो पर्याय प्रगट हुई, वह स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई, इसलिए वह **स्वभाव**;

उस समय पुद्गलकर्म का स्वयं अभाव होता है, वह अभावरूप निमित्त एवं सद्गुरु इत्यादि हों, वे सद्भावरूप **निमित्त** हैं।

पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, इसकी श्रद्धा करने पर अथवा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने पर जीव, जगत् का साक्षी हो जाता है।

इसमें स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है – यह जैनदर्शन का मूलभूत रहस्य है।

सम्यक्नियतिवाद और मिथ्यानियतिवाद

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की 882 वीं गाथा में जिस नियतिवादी जीव की गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है, वह जीव तो नियतिवाद की बात करता है, किन्तु वह न तो सर्वज्ञ को मानता है और न अपने ज्ञान में ज्ञाता-दृष्टापने का पुरुषार्थ करता है। यदि सम्यक्नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करे तो उसमें सर्वज्ञ का निर्णय और स्वभाव के ज्ञाता-दृष्टापने का पुरुषार्थ आ ही जाता है और यह सम्यक्निर्णय गृहीत एवं अगृहीतमिथ्यात्व का नाश करनेवाला है। सम्यक्नियतिवाद कहो या स्वभाव कहो; उसमें प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है। यदि इस न्याय को जीव भलीभाँति समझे तो उपादान-निमित्त सम्बन्धी सभी गड़बड़ दूर हो जाए, क्योंकि जिस वस्तु में जिस समय जो पर्याय होती है, वही होती है, तो फिर 'निमित्त उसको करे या निमित्त के बिना वह न हो' – इस बात को अवकाश ही कहाँ है ? जो जीव सर्वज्ञ को जानकर, नियतिवाद को मानकर, पर के और राग के कर्त्तत्व का अभाव करता है तथा ज्ञाता-दृष्टापनेरूप साक्षीभाव प्रगट करता है, वह जीव अनन्त पुरुषार्थी सम्यग्दृष्टि है।

कौन कहता है कि सम्यक्नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व है ?

सम्यक्नियतिवाद, गृहीतमिथ्यात्व नहीं किन्तु वीतरागता का कारण है। जो सर्वज्ञ के स्वीकाररूप ऐसे सम्यक्नियतिवाद को एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं, उन्होंने इस बात को यथार्थतया समझा तो नहीं, भलीभाँति सुना तक नहीं है।

सम्यक्नियतिवाद के निर्णय में तो वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति है और केवलज्ञान की प्रतीति है। अपनी अवस्था का आधार द्रव्य है और द्रव्यस्वभाव शुद्ध है - ऐसी प्रतीति के साथ 'जो होना हो सो होता है' इस प्रकार जो मानता है, वह जीव वीतरागदृष्टि है। उसका निर्णय वीतरागता का कारण है।

नियतिवाद के दो प्रकार है — एक सम्यक्नियतिवाद और दूसरा मिथ्यानियतिवाद। सम्यक्नियतिवाद, वीतरागता का कारण है, उसका स्वरूप ऊपर बताया है। कोई जीव इस प्रकार नियतिवाद को मानता तो है कि 'जैसा होना हो वैसा ही होता है' किन्तु पर का लक्ष्य और पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावसन्मुख नहीं होता अथवा नियति का निश्चय करनेवाले अपने ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता को जो स्वीकार नहीं करता; पर और विकार के कर्त्तत्वरूप अभिमान को नहीं छोड़ता; इस प्रकार पुरुषार्थ का निषेध करके स्वच्छन्दता से प्रवृत्ति करता है, उसे गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है, उसका नियत एकान्त नियतिवाद है।

'जो होना हो सो होता है' इस प्रकार मात्र परलक्ष्य से मानना यथार्थ नहीं है। 'होना हो सो होता है' यदि ऐसा यथार्थ निर्णय हो तो जीव का ज्ञान, पर के प्रति उदासीन होकर, अपने स्वभाव की ओर झुक जाए और उस ज्ञान में यथार्थ शान्ति व पर का अकर्त्तत्व हो जाए। उस ज्ञान के साथ ही पुरुषार्थ, नियति, काल, स्वभाव और कर्म, यह पाँचों समवाय आ जाते हैं।

प्रश्न — मिथ्यानियतिवादी जीव भी, जब परवस्तु बिगड़ जाती है अथवा नष्ट हो जाती है, तब यह मानकर शान्ति तो रखता

ही है कि 'जैसा होना था सो हो गया' तब फिर उसके नियतिवाद को सच्चा क्यों नहीं माना जाए?

उत्तर — वह जीव जो शान्ति रखता है, वह यथार्थ शान्ति नहीं है किन्तु मन्दकषायरूप शान्ति है। यदि नियतिवाद का यथार्थ निर्णय हो तो, जिस प्रकार उस एक पदार्थ का जैसा होना था वैसा हुआ, उसी प्रकार समस्त पदार्थों का जैसा होना हो वैसा ही होता है - ऐसा भी निर्णय होना चाहिए और यदि ऐसा निर्णय हो तो फिर यह सब मान्यताएँ दूर हो जाती है कि 'मैं परद्रव्य का निमित्त होकर उसका कार्य करूँ।' जिस कार्य में, जिस समय, जिस निमित्त की उपस्थिति रहनी हो, उस कार्य में, उस सयम, वह निमित्त स्वयमेव होता ही है, तब फिर ऐसी मान्यताओं को अवकाश ही कहाँ रहेगा कि 'निमित्त मिलाना चाहिए' अथवा निमित्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अथवा निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता। यदि सम्यक्नियतिवाद का निर्णय हो तो निमित्ताधीनदृष्टि दूर हो जाती है।

प्रश्न — मिथ्यानियतिवाद को गृहीतमिथ्यात्व क्यों कहा है?

उत्तर — निमित्त से धर्म होता है, राग से धर्म होता है, शरीरादि का आत्मा कुछ कर सकता है - ऐसी मान्यता के रूप में अगृहीत-मिथ्यात्व अनादिकाल से विद्यमान था और जन्म के बाद शास्त्रों को पढ़कर अथवा कुगुरु इत्यादि के निमित्त से मिथ्यानियतिवाद का नवीन कदाग्रह ग्रहण किया; इसलिए उसे गृहीतमिथ्यात्व कहा जाता है। पहले जिसे अनादिकालीन अगृहीतमिथ्यात्व होता है; उसी को गृहीतमिथ्यात्व होता है।

जीव, इन्द्रिय-विषयों की पुष्टि के लिए 'जो होना होगा

सो होगा' ऐसा कहकर साता में रञ्जित होने की आदत से स्वच्छन्दता का मार्ग ढूँढ़ निकालते हैं, उसका नाम गृहीत -मिथ्यात्व है। वह जीव न तो सर्वज्ञ को पहचानता है और न वस्तु के स्वरूप को ही जानता है। सम्यक्नियतिवाद तो स्वभावभाव है, स्वतन्त्रता है, वीतरागता है, उसमें सर्वज्ञ की और वस्तुस्वभाव की पहचान है।

सम्यक्नियतिवाद के निर्णय से निमित्ताधीनदृष्टि और स्व-पर की एकत्वबुद्धि का अभाव

जिस वस्तु में, जिस समय, जैसी पर्याय होनी हो और जिस निमित्त की उपस्थिति में होनी हो; उस वस्तु में, उस समय, वैसी पर्याय होती ही है और वे निमित्त ही उस समय होते हैं - इस नियम में तीन लोक और तीन काल में कोई परिवर्तन नहीं होता। यही यथार्थ नियति का निर्णय है; इसमें आत्मस्वभाव के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आ जाते हैं और निमित्त की दृष्टि दूर हो जाती है। जिसकी ऐसी मान्यता है कि 'मैं पर का कर्ता तो नहीं हूँ किन्तु मैं निमित्त बनकर उसकी पर्याय में आगे-पीछे कर दूँ', वह मिथ्यादृष्टि है।

यह निमित्त है, इसलिए पर का कार्य होता है - ऐसी बात नहीं है, किन्तु प्रस्तुत वस्तु में उसकी योग्यता से जो कार्य होता है, उसमें अन्य वस्तु को निमित्त कहा जाता है। वस्तु में कार्य नहीं होना था, किन्तु मैं निमित्त हुआ, तब उसमें कार्य हुआ - ऐसी मान्यता में तो स्व-पर की एकत्वबुद्धि ही हुई।

लकड़ी अपने आप ऊँची होती है

'यह लकड़ी है, इसमें ऊपर उठने की योग्यता है, किन्तु जब

मेरा हाथ उसे स्पर्श करता है, तब वह उठती है अर्थात् जब मेरा हाथ उसके लिए निमित्त होता है, तब वह उठती है' - ऐसा माननेवाला वस्तु की पर्याय को स्वतन्त्र नहीं मानता अर्थात् उसकी संयोगीदृष्टि है। वह वस्तु के स्वभाव को ही नहीं मानता; इसलिए मिथ्यादृष्टि है। जब लकड़ी ऊपर नहीं उठती, तब उसमें ऊपर उठने की योग्यता ही नहीं है और जब उसमें योग्यता होती है, तब वह स्वयं ऊपर उठती है, उसे हाथ ने नहीं उठाया, किन्तु जब वह ऊपर उठती है, तब हाथ इत्यादि निमित्त स्वयमेव होते ही हैं। इस प्रकार उपादान-निमित्त का मेल स्वभाव से ही होता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कथन मात्र व्यवहार ही है कि 'हाथ के निमित्त से लकड़ी ऊपर उठी है।'

लोह चुम्बक सुई की क्रिया नहीं करता

लोह चुम्बक की ओर लोहे की सुई खिंचती है; वहाँ लोह चुम्बक, सुई को नहीं खींचती किन्तु सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती है।

प्रश्न — यदि सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती हो तो जब लोह चुम्बक उसके पास नहीं थी, तब उसने गमन क्यों नहीं किया ? और जब लोह चुम्बक निकट आया, तभी क्यों गमन किया ?

उत्तर — पहले सुई में गमन करने की योग्यता ही नहीं थी, इसलिए उस समय लोह चुम्बक उसके पास (सुई को खींचने योग्य क्षेत्र में) हो ही नहीं सकती और जब सुई में क्षेत्रान्तर करने की योग्यता होती है, तब लोह चुम्बक आदि कोई निमित्त होता है। उपादान-निमित्त का ऐसा ही सम्बन्ध है कि दोनों का मेल होता है, तथापि एक-दूसरे के कारण किसी की क्रिया नहीं होती। सुई

की गमन करने की योग्यता हुई, इसलिए लोह चुम्बक निकट आयी – यह बात नहीं है और लोह चुम्बक निकट आयी, इसलिए सुई खिंच गई – ऐसा भी नहीं है किन्तु जब सुई की क्षेत्रान्तर होने की योग्यता होती है, उसी समय लोह चुम्बक के उस क्षेत्र में ही रहने की योग्यता होती है, इसी का नाम निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है; किन्तु हैं दोनों स्वतन्त्र।

निमित्तपने की योग्यता

प्रश्न — जब लोह चुम्बक सुई में कुछ भी नहीं करती तो फिर उसी को निमित्त क्यों कहा है ? अन्य सामान्य पत्थर को निमित्त क्यों नहीं कहा ? जैसे लोह चुम्बक सुई में कुछ नहीं करती, तथापि वह निमित्त कहलाती है, तब फिर लोह चुम्बक की भाँति अन्य पत्थर भी सुई में कुछ नहीं करते; तथापि उन्हें निमित्त क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर — उस समय, उस कार्य के लिए लोह चुम्बक में ही निमित्तपन की योग्यता है अर्थात् उपादान के कार्य के लिए अनुकूलता का आरोप की जाने योग्य योग्यता लोह चुम्बक की उस समय की पर्याय में है, दूसरे पत्थर में वैसी योग्यता उस समय नहीं है। जैसे सुई में उपादान की योग्यता है, इसलिए वह खिंचती है; इसी प्रकार उसी समय लोह चुम्बक में निमित्तपने की योग्यता है, इसलिए उसे निमित्त कहा जाता है। एक समय की उपादान की योग्यता उपादान में है और एक समय की निमित्त की योग्यता निमित्त में है किन्तु दोनों की योग्यता का मेल है; इसलिए अनुकूल निमित्त कहलाता है।

लोह चुम्बक में निमित्तपने की जो योग्यता है, उसे अन्य समस्त पदार्थों से पृथक् करके पहचानने के लिए 'निमित्त' कहा

जाता है, किन्तु उसके कारण सुई में विलक्षणता नहीं होती। जब उपादान में कार्य होता है, तब व्यवहार से-आरोप से दूसरे पदार्थ को निमित्त कहा जाता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह उपादान और निमित्त दोनों को जानता है।

सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत्

इष्टोपदेश गाथा 35 में कहा है कि सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' है। धर्मास्तिकायपदार्थ लोक में सर्वत्र है, जब जीव और पुद्गल अपनी योग्यता से गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है और जब वे गमन नहीं करते तो उसे निमित्त नहीं कहा जाता। धर्मास्तिकाय की भाँति ही समस्त निमित्तों का स्वरूप समझना चाहिए। धर्मास्तिकाय में निमित्तपने की ऐसी योग्यता है कि जब जीव-पुद्गल गति करते हैं, तब उन्हीं में उसे निमित्त कहा जाता है, किन्तु स्थिति में उसे निमित्त नहीं कहा जाता; स्थिति का निमित्त कहलाने की योग्यता अधर्मास्तिकाय में है।

सिद्धभगवान अलोक में क्यों नहीं जाते?

सिद्धभगवान अपनी क्षेत्रान्तर की योग्यता से जब एक समय में लोकाग्र में गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है परन्तु धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण उनका अलोक में गमन नहीं होता - यह कथन निमित्तसापेक्ष है। वास्तव में वे लोकाग्र में स्थित होते हैं, यह भी उनकी ही वैसी योग्यता के कारण से है, उस समय अधर्मास्तिकाय निमित्त है।

प्रश्न — सिद्धभगवान लोकाकाश के बाहर गमन क्यों नहीं करते?

उत्तर — उनकी योग्यता ही ऐसी है क्योंकि वह लोक का द्रव्य है और उसकी योग्यता लोक के अन्त तक ही जाने की है; लोकाकाश से बाहर जाने की उनमें योग्यता ही नहीं है। 'अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए सिद्ध वहाँ गमन नहीं करते', इस प्रकार धर्मास्तिकायाभावात् यह व्यवहारनय का कथन है। तात्पर्य यह है कि उपादान में स्वयं अलोकाकाश में जाने की योग्यता नहीं होती, तब निमित्त भी नहीं होता - ऐसा उपादान-निमित्त का मेल बताने के लिए ही यह कथन है।

निमित्त के कारण उपादान में विलक्षणदशा नहीं होती

प्रश्न — उपादान में निमित्त कुछ नहीं करता, यह बात सच है किन्तु जब निमित्त होता है, तब उपादान में विलक्षण अवस्था तो होती ही है ? जैसे अग्निरूपी निमित्त के आने पर पानी तो उष्ण होता ही है ?

उत्तर — जिस पानी की पर्याय का स्वभाव, उसी समय गर्म होने का था, वही पानी, उसी अग्नि के संयोग में आया है और अपनी योग्यता से स्वयं ही गर्म हुआ है; अग्नि के कारण उसे विलक्षण होना पड़ा हो - ऐसी बात नहीं है और अग्नि ने पानी को गर्म नहीं किया है।

मिथ्यादृष्टि संयोग और सम्यग्दृष्टि स्वभाव को देखता है

'अग्नि से पानी गर्म हुआ है' - ऐसी मान्यता संयोगाधीन-पराधीनदृष्टि है और पानी अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है - ऐसी मान्यता स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि है। संयोगाधीनदृष्टिवन्त जीव मिथ्यादृष्टि है और स्वभावदृष्टिवन्त जीव सम्यग्दृष्टि है।

प्रत्येक कार्य वस्तु के स्वभाव की समय-समय की योग्यता से

होता है। मिथ्यादृष्टि जीव उस स्वभाव को नहीं देखता, किन्तु निमित्त के संयोग को देखता है - यही उसकी पराधीनदृष्टि है। उस दृष्टि से कभी भी स्व-पर की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीव, स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को देखता है कि प्रत्येक वस्तु की समय-समय की योग्यता से ही उसका कार्य स्वतन्त्रता से होता है और उस समय जिस निमित्त की योग्यता होती है, वही निमित्त होता है; दूसरा हो ही नहीं सकता। सबमें अपने कारण से अपनी अवस्था हो रही है। वहाँ अज्ञानी यह मानता है कि 'यह कार्य निमित्त से हुआ है अथवा निमित्त ने किया है।'

उपादान और निमित्त की स्वतन्त्र योग्यता

जब आत्मा अपनी पर्याय में राग-द्वेष-मोह करता है, तब कर्म के जिन परमाणुओं की योग्यता होती है, वे उदयरूप होते हैं, कर्म न हो ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कर्म उदय में आया, इसलिए जीव के राग-द्वेष हुआ - ऐसा नहीं है और जीव ने राग-द्वेष किया, इसलिए कर्म उदय में आया - ऐसा भी नहीं है। जीव के अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से राग-द्वेष होने की योग्यता थी; इसीलिए राग-द्वेष हुए हैं और उस समय जिन कर्मों में योग्यता थी, वे कर्म उदय में आये हैं और उन्हीं को निमित्त कहा जाता है किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं है।

जब ज्ञान की पर्याय अपूर्ण हो, तब ज्ञानावरणकर्म में ही निमित्तपने की योग्यता है। जब जीव अपनी पर्याय में मोह करता है, तब मोहकर्म को ही निमित्त कहा जाता है - ऐसी उन कर्मपरमाणुओं की योग्यता है। जैसे उपादान में प्रति समय स्वतन्त्र योग्यता है, उसी

प्रकार निमित्तरूप कर्म के प्रत्येक परमाणुओं में भी समय-समय की स्वतन्त्र योग्यता है।

प्रश्न — क्या यह सच नहीं है कि जीव ने राग-द्वेष किये, इसलिए परमाणुओं में कर्मरूप अवस्था हुई?

उत्तर — यह कथन निमित्त का है। अमुक परमाणु ही कर्मरूप हुए और जगत् के दूसरे अनन्त परमाणु कर्मरूप क्यों नहीं हुए? - इसलिए जिन-जिन परमाणुओं में योग्यता थी, वही परमाणु कर्मरूप परिणत हुए हैं। वे अपनी योग्यता से ही कर्मरूप हुए हैं, जीव के राग-द्वेष के कारण नहीं।

प्रश्न — जब परमाणुओं में कर्मरूप होने की योग्यता होती है, तब आत्मा को राग-द्वेष करना ही चाहिए क्योंकि परमाणुओं में कर्मरूप होने का उपादान है, इसलिए वहाँ जीव के विकाररूप निमित्त होना ही चाहिए; क्या यह बात ठीक है?

उत्तर — यह दृष्टि अज्ञानी की है। भाई! तुझे अपने स्वभाव में देखने का काम है या परमाणु में देखने का? जिसकी दृष्टि स्वतन्त्र हो गयी है, वह आत्मा की ओर देखता है और जिसकी दृष्टि निमित्ताधीन है, वह परमुखापेक्षी रहता है। जिसने यह यथार्थ निर्णय किया है कि 'जब जिस वस्तु की जो अवस्था होनी हो, वही होती है;' उसके द्रव्यदृष्टि होती है, स्वभावदृष्टि होती है; उसकी स्वभावदृष्टि में तीव्र रागादि तो होते ही नहीं और उस जीव के निमित्त से तीव्रकर्मरूप परिणमित होने की योग्यतावाले परमाणु ही इस जगत में नहीं होते।

जब जीव ने अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट किया वहाँ उस जीव के लिए मिथ्यात्वादि कर्मरूप से परिणमित

होने की योग्यता विश्व के किसी परमाणु में होती ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जो अल्प राग-द्वेष है, वह अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से है, उस समय अल्प कर्मरूप से बँधने की योग्यता परमाणु की पर्याय में है। इस प्रकार स्वलक्ष्य से प्रारम्भ करना है।

'जगत् के परमाणुओं में मिथ्यात्वादि कर्मरूप होने की योग्यता है; इसलिए जीव के मिथ्यात्वादि भाव होना ही चाहिए' - जिसकी ऐसी मान्यता है, वह जीव स्वद्रव्य के स्वभाव को नहीं जानता और इसलिए उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने योग्य परमाणु इस जगत् में विद्यमान हैं - ऐसा जानना चाहिए किन्तु स्वभावदृष्टि से देखनेवाले जीव के मिथ्यात्व होता ही नहीं और उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने की योग्यता ही जगत् के किसी परमाणु में नहीं होती।

स्वभावदृष्टि से ज्ञानी विकार के अकर्ता हो गये हैं, इसलिए यह बात ही मिथ्या है कि 'ज्ञानी को पर के कारण विकार करना पड़ता है।' जो अल्प विकार होता है, वह भी स्वभावदृष्टि के बल अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा दूर होता जाता है। ऐसी स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि (सम्यक्श्रद्धा) किये बिना जीव जो कुछ शुभभावरूप व्रत, तप, त्याग करता है, वे सब 'अरण्यरोदन' के समान निष्फल है।

फूँक से पर्वत को उड़ाने की बात!

शङ्का — 'वस्तु में जब जो पर्याय होनी होती है, वह होती है और तब निमित्त अवश्य होता है किन्तु निमित्त कुछ नहीं करता और निमित्त के द्वारा कोई कार्य नहीं होता' - यह तो फूँक से पर्वत को उड़ाने जैसी बात है ?

समाधान — नहीं, यहाँ फूँक से भी पर्वत को उड़ाने की बात नहीं है। पर्वत के अनन्त परमाणुओं में उड़ने योग्यता हो तो पर्वत अपने आप उड़ता है, पर्वत को उड़ाने के लिए फूँक की भी आवश्यकता नहीं होती। यहाँ किसी के मन में यह हो सकता है कि 'अरे यह कैसी बात है! क्या पर्वत भी अपने आप उड़ते होंगे?' किन्तु भाई! वस्तु में जो काम होता है अर्थात् जो पर्याय होती है, वह उसकी अपनी ही शक्ति से, योग्यता से होती है। **वस्तु की शक्तियाँ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती।** परवस्तु का उसमें अभाव है तो वह क्या करे?

उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त

प्रश्न — निमित्त के दो प्रकार हैं - एक उदासीन, दूसरा प्रेरक। इनमें से उदासीन निमित्त कुछ नहीं करता परन्तु प्रेरक निमित्त तो उदासीन को कुछ प्रेरणा करता है?

उत्तर — निमित्त के भिन्न-भिन्न प्रकार बताने के लिए यह दो भेद हैं किन्तु उनमें से कोई भी निमित्त, उपादान में कुछ भी नहीं करता अथवा निमित्त के कारण उपादान में कोई विलक्षणता नहीं आती। प्रेरक निमित्त भी पर में कुछ नहीं करता। सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' है।

प्रश्न — प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त की क्या परिभाषा है?

उत्तर — उपादान की अपेक्षा से तो दोनों पर हैं, दोनों अकिञ्चित्कर हैं; इसलिए दोनों समान हैं। निमित्त की अपेक्षा से यह दो भेद हैं। जो निमित्त स्वयं इच्छावान या गतिवान होता है, वह प्रेरक निमित्त कहलाता है और जो निमित्त स्वयं स्थिर या इच्छारहित

होता है, वह उदासीन निमित्त कहलाता है। इच्छावान जीव और गतिवान अजीव प्रेरक निमित्त हैं और इच्छारहित जीव तथा गतिहीन अजीव उदासीन निमित्त हैं परन्तु दोनों प्रकार के निमित्त पर में बिल्कुल कार्य नहीं करते। जब घड़ा बनता है, तब उसमें कुम्हार और चाक प्रेरक निमित्त हैं तथा धर्मास्तिकाय इत्यादि उदासीन निमित्त हैं किन्तु हैं तो सब अकिञ्चित्कर।

यह बात निमित्त की है कि भगवान महावीर के समवसरण में गौतमगणधर के आने से दिव्यध्वनि खिरी और पहले छियासठ दिन तक उनके न आने से भगवान की ध्वनि खिरने से रुकी रही। वाणी के परमाणुओं में जिस समय वाणीरूप से परिणमित होने की योग्यता थी, उस समय ही वे वाणीरूप में परिणमित हुए और उस समय वहाँ गणधरदेव की अवश्य उपस्थिति रहती है। गणधर आये इसलिए वाणी छूटी - ऐसी बात नहीं है। गणधर जिस समय आये, उसी समय उनकी आने की योग्यता थी - ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसलिए इस तर्क को अवकाश ही नहीं है कि यदि गौतमगणधर न आये होते तो वाणी कैसे छूटती?

निमित्त न हो तो... ?

'कार्य होना हो और निमित्त न हो तो... ?' ऐसी शङ्का करनेवाले से ज्ञानी पूछते हैं कि 'हे भाई! इस जगत् में तू जीव ही न होता तो? अथवा तू अजीव होता तो?' तब शङ्काकार उत्तर देता है कि 'मैं जीव ही हूँ' इसलिए दूसरे तर्क को स्थान नहीं है।

तब ज्ञानी कहते हैं कि जैसे, तू स्वभाव से ही जीव है, इसलिए उसमें दूसरे तर्क को स्थान नहीं है; इसी प्रकार 'जब उपादान में कार्य

होता है, तब निमित्त उपस्थित ही है' – ऐसा ही उपादान –निमित्त का स्वभाव है, इसलिए इसमें दूसरे तर्क को अवकाश नहीं है।

कमल में विकसित होने की योग्यता हो किन्तु यदि सूर्योदय न हो तो ?

कमल के खिलने और सूर्य के उदय होने में सहज निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु सूर्य का उदय हुआ, इसलिए कमल खिला ऐसा नहीं, वह तो अपनी उस पर्याय की योग्यता से खिला है।

प्रश्न — यदि सूर्योदय न हो तब तो कमल नहीं खिलेगा ?

उत्तर — 'कार्य होना हो किन्तु निमित्त न हो तो ?' ऐसा ही यह प्रश्न है, इसका समाधान उपरोक्त युक्ति के अनुसार समझ लेना चाहिए। जब कमल में खिलने की योग्यता होती है, तब सूर्य में भी अपने ही कारण से उदित होने की योग्यता होती है – ऐसा स्वभाव है। कमल में विकसित होने की योग्यता हो और सूर्य में उदित होने की योग्यता न हो – ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। तथापि सूर्य के कारण कमल नहीं खिलता और कमल को खिलना है; इसलिए सूर्य उदय होता है – ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न — यदि सूर्य के कारण कमल नहीं खिलता हो तो ऐसा क्यों होता है कि जब सूर्योदय छह बजे होता है, तब कमल भी छह बजे खिलता है और जब सूर्योदय सात बजे होता है, तब कमल भी सात बजे खिलता है ?

उत्तर — उसी समय कमल में खिलने की योग्यता है, इसीलिए वह तभी खिलता है। पहले उसमें अपने में ही खिलने की योग्यता नहीं थी और उसकी योग्यता बन्द रहने की ही थी।

वस्तु में एक समय में दो विरुद्ध प्रकार की पर्यायों की योग्यता नहीं हो सकती।

जैनदर्शन का मूल रहस्य।

वस्तुस्वभाव स्वतन्त्र, निरपेक्ष है। जब तक स्व-पर की भिन्नतारूप इस स्वभाव को न जान ले, तब तक जीव को पर से सच्ची उदासीनता नहीं होती, विकार का स्वामित्व नहीं मिटता और अपनी पर्याय का स्वामी (आधार) जो आत्मस्वभाव है, उसकी दृष्टि नहीं होती। यह स्वतन्त्रता जैनदर्शन का मूल रहस्य है।

एक परमाणु की स्वतन्त्र शक्ति

प्रत्येक जीव तथा अजीव द्रव्यों की पर्याय स्वतन्त्रतया अपने से ही होती है। एक परमाणु भी अपनी ही शक्ति से परिणमित होता है; उसमें निमित्त क्या करता है? एक परमाणु पहले समय में काला होता है और दूसरे समय में सफेद हो जाता है तथा पहले समय में एक अंश काला और दूसरे समय में अनन्त गुना काला हो जाता है, इसमें निमित्त ने क्या किया? वह तो अपनी योग्यता से परिणमित होता है।

इन्द्रियों और ज्ञान का स्वतन्त्र परिणमन

यह बात मिथ्या है कि जड़ इन्द्रियाँ हैं, इसलिए आत्मा को ज्ञान होता है। आत्मा का त्रिकाल सामान्य ज्ञानस्वभाव अपने कारण से प्रतिसमय परिणमित होता है और जिस पर्याय में जैसी योग्यता होती है, उतना ही ज्ञान का विकास होता है। पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान का विकास है, इसलिए पाँच बाह्य इन्द्रियाँ हैं - ऐसी बात नहीं है, और पाँच इन्द्रियाँ हैं, इसलिए ज्ञान का विकास है - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की पर्याय में जितनी योग्यता थी, उतना विकास हुआ है और जिन

परमाणुओं में इन्द्रियरूप होने की योग्यता थी, वे स्वयं इन्द्रियरूप में परिणमित हुए हैं; तथापि दोनों का निमित्त-नैमित्तिक मेल है। जिस जीव के एक ही इन्द्रिय-सम्बन्धी ज्ञान का विकास होता है, उसके एक ही इन्द्रिय होती है; दोवाले के दो; तीनवाले के तीन; चारवाले के चार और पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विकासवाले के पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं। वहाँ दोनों का स्वतन्त्र परिणमन है। एक के कारण दूसरे में कुछ नहीं हुआ है, इसी को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

राग-द्वेष का कारण कौन है ?
सम्यग्दृष्टि के भी राग-द्वेष क्यों होता है ?

प्रश्न — यदि कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते हों तो आत्मा में विकार होने का कारण कौन है ? सम्यग्दृष्टि जीवों के विकार करने की भावना नहीं होती, तथापि उनके भी विकार होता है, इसलिए कर्म विकार कराते हैं न ?

उत्तर — कर्म आत्मा को विकार कराता है - यह बात मिथ्या है। आत्मा को अपनी पर्याय के दोष से ही विकार होता है, कर्म, विकार नहीं कराता। सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष करने की भावना नहीं होने पर भी राग-द्वेष होता है, इसका कारण चारित्रगुण की वैसी पर्याय की योग्यता है। राग-द्वेष की भावना नहीं है, वह तो श्रद्धागुण की पर्याय है और राग-द्वेष होता है, यह चारित्रगुण की पर्याय है। अतः इस राग-द्वेष का कारण न तो परद्रव्य है और न आत्मस्वभाव ही उसका कारण है; तत्कालीन पर्याय ही कारण है।

सम्यक् निर्णय का बल और फल

प्रश्न — जो विकार होता है, वह चारित्रगुण की पर्याय की ही

योग्यता है, तब फिर जहाँ तक चारित्रगुण की पर्याय में विकार होने की योग्यता होगी, वहाँ तक विकार होता ही रहेगा? ऐसा होने पर विकार को दूर करना जीव के आधीन कैसे रहा?

उत्तर — प्रत्येक समय की स्वतन्त्र योग्यता है – ऐसा निर्णय किस ज्ञान में किया है? त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख हुए बिना, ज्ञान में एक-एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं हो सकता और जहाँ ज्ञान, त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख हुआ, वहाँ स्वभाव की प्रतीति के बल से पर्याय में से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती ही जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय में अधिक समय तक राग-द्वेष रहें, या अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष रहें; ऐसी योग्यता कदापि नहीं होती – ऐसा ही सम्यक् निर्णय का बल है और मोक्ष इसका फल है।

कार्य में निमित्त कुछ नहीं करता तथापि उसे 'कारण' क्यों कहा गया है?

कार्य के दो कारण कहे गये हैं; इनमें एक उपादानकारण ही यथार्थ कारण है, दूसरा निमित्तकारण तो आरोपित कारण है। उपादान और निमित्त, इन दो कारणों के कहने का आशय ऐसा नहीं है कि दोनों एकत्रित होकर कार्य करते हैं। जब उपादानकारण स्वयं कार्य करता है, तब दूसरी वस्तु पर आरोप करके उसे निमित्तकारण कहा जाता है किन्तु वास्तव में दो कारण नहीं हैं, एक ही कारण है। जैसे मोक्षमार्ग दो नहीं, एक ही है।

प्रश्न — जब निमित्त वास्तव में कारण नहीं है, तब फिर उसे कारण क्यों कहा?

उत्तर — जिसे निमित्त कहा जाता है, उस पदार्थ में उस प्रकार की अर्थात् निमित्तरूप होने की योग्यता है; इसलिए अन्य पदार्थों से पृथक् पहिचानने के लिए उसे 'निमित्तकारण' की संज्ञा दी गयी है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह पर को भी जानता है और पर में जो निमित्तपने की योग्यता है, उसे भी जानता है।

कर्मोदय के कारण जीव को विकार नहीं होता

जब जीव की पर्याय में विकार होता है, तब कर्म निमित्तरूप अवश्य होता है किन्तु जीव की पर्याय और कर्म दोनों मिलकर विकार नहीं करते। कर्मोदय के कारण विकार नहीं होता और विकार किया इसलिए कर्म उदय में आये, ऐसा भी नहीं है तथा जीव विकार न करे तब कर्म खिर जाते हैं, उसे निमित्त कहते हैं, उस समय उन परमाणुओं की योग्यता ही ऐसी थी।

जिस द्रव्य की, जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में और जिस प्रकार, जैसी अवस्था होनी हो, वैसी उसी प्रकार अवश्य होती है, उसमें अन्तर हो ही नहीं सकता - इस श्रद्धा में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। इसमें स्वभाव की दृढ़ता और स्थिरता की एकता है तथा विकार से उदासीन और पर से भिन्नता है; इस प्रकार इसमें प्रति समय भेदविज्ञान का वीतरागी कार्य है।

नैमित्तिक की व्याख्या

प्रश्न — नैमित्तिक का अर्थ व्याकरण के अनुसार तो ऐसा होता है कि 'जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है।' जबकि यहाँ तो यह कहा है कि निमित्त से नैमित्तिक में कुछ नहीं होता; इसका क्या कारण है ?

उत्तर — 'जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है, अर्थात् निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है' यह परिभाषा व्यवहार से की गयी है। वास्तव में निमित्त से नैमित्तिक नहीं होता किन्तु उपादान का जो कार्य है, वह नैमित्तिक है और जब नैमित्तिक अर्थात् कार्य होता है, तब निमित्त भी होता है; इसलिए उपचार से उस निमित्त को जनक भी कहा जाता है। नैमित्तिक का अर्थ ऐसा भी होता है कि 'जिसमें निमित्त का सम्बन्ध हो, वह नैमित्तिक है' अर्थात् जब नैमित्तिक होता है, तब निमित्त भी अवश्य ही होता है, इतना सम्बन्ध है किन्तु यदि निमित्त, नैमित्तिक में कुछ भी करे तो उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न रहकर कर्ता-कर्म सम्बन्ध हो जाएगा किन्तु दो भिन्न द्रव्यों के बीच में कर्ता-कर्म सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न — निमित्त के द्वारा उपादान का कार्य होता है, अतः हमें निमित्त मिलाना चाहिए; हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर — यह बात मिथ्या है। मैं निमित्त मिलाऊँ, इस मान्यता में पर की कर्तृत्वबुद्धि और पराधीनदृष्टि है। निमित्त नहीं था, इसलिए कार्य रुक गया और निमित्त मिलाऊँ तो कार्य हो, यह बात सच नहीं है, किन्तु जब कार्य होना ही नहीं था, इसलिए तब निमित्त भी नहीं था और जब कार्य होता है, तब निमित्त भी अवश्य होता है - यह अबाधित नियम है। पर निमित्तों को आत्मा प्राप्त कर सकता है - ऐसा मानना ठीक नहीं है।

इस प्रकार आत्मा को अपने कार्य में पर की अपेक्षा नहीं है।

कोई यह माने कि 'हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए'

तो वह जीव सदा निमित्त की ओर ही देखा करेगा अर्थात् उसकी दृष्टि बाहर में ही रहा करेगी और वह पर की उपेक्षा करके स्वभावदृष्टि का निर्मल कार्य प्रगट नहीं कर सकेगा। निमित्त के मार्ग से उपादान का कार्य कभी नहीं होता, किन्तु उपादान की योग्यता से ही (उपादान के मार्ग से ही) उसका कार्य होता है।

जिनशासन का उपदेश :- निमित्त की उपेक्षा करके स्वसन्मुख होओ

निमित्त की उपेक्षा नहीं करना अर्थात् परद्रव्य के साथ का सम्बन्ध नहीं तोड़ना – ऐसी मान्यता जैनशासन के विरुद्ध है। जैनशासन का प्रयोजन दूसरे के साथ सम्बन्ध कराना नहीं, किन्तु दूसरे के साथ का सम्बन्ध छुड़ाकर वीतरागभाव कराना है। समस्त सत्शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है और वह वीतरागभाव, स्वभाव के लक्ष्य द्वारा समस्त परपदार्थों से उदासीनता होने पर ही होता है। किसी भी परलक्ष्य में रुकना शास्त्र का प्रयोजन नहीं है क्योंकि पर के लक्ष्य से राग होता है। निमित्त भी परद्रव्य है, इसलिए निमित्त की अपेक्षा छोड़कर अर्थात् उसकी उपेक्षा करके, अपने स्वभाव के सन्मुख होना ही प्रयोजन है।'निमित्त की उपेक्षा करने योग्य नहीं है, अर्थात् निमित्त का लक्ष्य छोड़ने योग्य नहीं है' – ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्व है और उस मिथ्याअभिप्राय को छोड़ने के बाद भी अस्थिरता के कारण निमित्त पर लक्ष्य जाता है, वह राग का कारण है; इसलिए अपने स्वभाव के आश्रय से निमित्त इत्यादि परद्रव्यों की उपेक्षा करना ही यथार्थ है।

मुमुक्षु जीवों को अवश्य समझने योग्य

यह उपादान-निमित्त सम्बन्धी बात विशेष प्रयोजनभूत है। इसे

समझे बिना जीव की दो द्रव्यों में एकता की बुद्धि कदापि दूर नहीं हो सकती और स्वभाव की श्रद्धा नहीं हो सकती। स्वभाव की श्रद्धा हुए बिना स्वभाव में अभेदता नहीं होती अर्थात् जीव का कल्याण नहीं होता। ऐसा ही वस्तुस्वभाव केवलज्ञानियों ने देखा है और सन्त मुनियों ने कहा है। यदि जीव को कल्याण करना हो तो उसे यह समझना होगा।

प्रश्न — समर्थ कारण किसे कहते हैं?

उत्तर — जब उपादान में कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त दोनों एकसाथ होते हैं; इसलिए उन दोनों को एक ही साथ समर्थ कारण कहा जाता है और वहाँ प्रतिपक्षी कारणों का अभाव ही रहता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उपादान के कार्य में निमित्त कुछ करता है। वस्तुतः तो जब उपादान की योग्यता होती है, तब निमित्त अवश्य होता है।

प्रश्न — समर्थ कारण द्रव्य है, गुण है या पर्याय?

उत्तर — वर्तमान पर्याय ही समर्थ कारण है। पूर्व पर्याय को वर्तमान पर्याय का उपादानकारण कहना व्यवहार है। निश्चय से तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण-कार्य है और इससे भी आगे बढ़कर कहें तो एक पदार्थ में कारण और कार्य ऐसे दो भेद करना भी व्यवहार है। वास्तव में तो प्रत्येक समय की पर्याय अहेतुक है।

प्रश्न — मिट्टी को घड़े का उपादानकारण कहा जाता है, यह कैसे?

उत्तर — वास्तव में घड़े का उपादानकारण सभी मिट्टी नहीं है, किन्तु जिस समय घड़ा बनता है, उस समय की अवस्था ही स्वयं उपादानकारण है। मिट्टी को घड़े का उपादानकारण कहने का हेतु

यह है कि घड़ा बनने के लिए मिट्टी में जैसी सामान्य योग्यता है, वैसी योग्यता अन्य पदार्थों में नहीं है। मिट्टी में घड़ा बनने की विशेष योग्यता तो जिस समय घड़ा बनता है, उसी समय है; उससे पूर्व उसमें घड़ा बनने की विशेष योग्यता नहीं है; इसलिए विशेष योग्यता ही सच्चा उपादानकारण है, जो कि कार्य का उत्पादक है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए उसे जीव में लागू करते हैं –

सम्यग्दर्शन प्रगट होने की सामान्य योग्यता तो प्रत्येक जीव में है, जीव से अतिरिक्त अन्य किसी में वैसी सामान्य योग्यता नहीं है। सम्यग्दर्शन की सामान्य योग्यता (शक्ति) समस्त जीवों में है किन्तु विशेष योग्यता भव्यजीवों में ही होती है; अभव्यजीवों के तथा भव्यजीव जब तक मिथ्यादृष्टि रहता है, तब तक उसके भी सम्यग्दर्शन की विशेष योग्यता नहीं होती। विशेष योग्यता तो उसी समय है, जिस समय जीव, पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। सामान्य योग्यता द्रव्यरूप है और विशेष योग्यता प्रगटरूप है; सामान्य योग्यता कार्य के प्रगट होने का उपादानकारण नहीं किन्तु विशेष योग्यता ही उपादानकारण है।

प्रश्न — 'चारित्रदशा प्रगट होती है, इसलिए वस्त्र नहीं छूट जाते किन्तु वस्त्र के परमाणुओं की योग्यता से ही वे छूटते हैं' – ऐसा आपने कहा है किन्तु किसी जीव के चारित्रदशा प्रगट होती हो और वस्त्र में छूटने की योग्यता न हो तो क्या सवस्त्र मुक्ति हो जाएगी?

उत्तर — सवस्त्र मुक्ति होने की तो बात ही नहीं है। चारित्रदशा का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे वस्त्र के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता ही नहीं; इसलिए चारित्रदशा में सहज ही वस्त्र का

त्याग होता है तो भी वस्त्र का त्याग उन परमाणुओं की अवस्था की योग्यता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

प्रश्न — यदि किसी मुनिराज के शरीर पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल जाए तो उस समय उनके चारित्र का क्या होगा?

उत्तर — किसी दूसरे जीव के द्वारा वस्त्र डाला जाए यह तो उपसर्ग है; इससे मुनि के चारित्र में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उस वस्त्र के साथ उनके चारित्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है; वस्तुतः वहाँ तो वस्त्र ज्ञान का ज्ञेय है अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायकपने का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

सम्यक् नियतवाद क्या है?

वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध जिस समय जो होनी हो, वही होती है - ऐसा 'सम्यक् नियतिवाद' जैनदर्शन का वास्तविक स्वभाव है - यही वस्तुस्वभाव है। 'नियत' शब्द शास्त्रों में अनेक जगह आता है किन्तु नियत का अर्थ है निश्चित-नियमबद्ध; वह एकान्तवाद नहीं किन्तु वस्तु का यथार्थ स्वभाव है, यही अनेकान्तवाद है। सम्यक्नियतवाद का निर्णय करते समय, बाह्य में राजपाट का संयोग हो तो वह छूट ही जाना चाहिए - ऐसा नियम नहीं है किन्तु उसके प्रति यथार्थ उदासभाव अवश्य हो जाता है। बाह्य संयोग में अन्तर पड़े या न पड़े किन्तु अन्तर के निर्णय में अन्तर पड़ जाता है।

अज्ञानी जीव नियतवाद की बातें करता है किन्तु ज्ञान और पुरुषार्थ को स्वभावसन्मुख करके निर्णय नहीं करता। नियतवाद का निर्णय करने में जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है, उसे यदि जीव पहिचाने तो स्वभावाश्रित वीतरागभाव प्रगट हो और पर से उदास हो

जाए क्योंकि सम्यक् नियतवाद का निर्णय किया कि स्वयं सबका मात्र ज्ञानभाव से ज्ञाता-दृष्टा रह गया और पर का या राग का कर्ता नहीं रहा।

जब स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की नास्ति ही है तो फिर उसमें पर क्या करें? जब उपादान-निमित्त का यथार्थ निर्णय हो जाता है, तब पर का कर्त्तत्वभाव उड़ जाता है और वीतरागदृष्टिपूर्वक वीतरागी स्थिरता का प्रारम्भ हो जाता है। अज्ञानीजन इस नियतवाद को एकान्तवाद और गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि यह सम्यक् नियतवाद ही अनेकान्तवाद है और इसके निर्णय में जैनदर्शन का सार आ जाता है तथा यह केवलज्ञान का कारण है।

कुछ अकस्मात् है ही नहीं

प्रश्न — सम्यग्दृष्टि के अकस्मात् भय नहीं होता, इसका क्या कारण है?

उत्तर — सम्यग्दृष्टि को यथार्थ नियतवाद का निर्णय है कि जगत् के समस्त पदार्थों की अवस्था उनकी योग्यतानुसार ही होती है। जो न होना हो - ऐसा कुछ होता ही नहीं; इसलिए कुछ अकस्मात् है ही नहीं, इस निःशङ्क श्रद्धा के कारण सम्यग्दृष्टि को अकस्मात् भय नहीं होता। वस्तु की पर्यायें क्रमशः ही होती हैं, अज्ञानी को इसकी प्रतीति नहीं है; इसलिए उसे अकस्मात् भय रहता है और कर्त्तत्वबुद्धि रहती है।

निमित्त किसका? और कब?

यदि निमित्त के यथार्थ स्वरूप को समझे तो यह मान्यता दूर हो जाए कि निमित्त, उपादान में कुछ करता है, क्योंकि जब कार्य है, तब

तो पर को उसका निमित्त कहा गया है, कार्य के बिना किसी को उसका निमित्त नहीं कहा जाता। जो कार्य हो चुका है, उसमें निमित्त क्या करेगा ? और कार्य के बिना निमित्त किसका ? कुम्हार किसका निमित्त है ? यदि घड़ारूपी कार्य हो तो कुम्हार उसका निमित्त हो और यदि कार्य ही न हो तो किसी को 'घड़े का निमित्त' कहा ही नहीं जा सकता। जब घड़ा बनता है, तभी कुम्हार को निमित्त कहा जाता है, तो फिर कुम्हार ने घड़े में कुछ भी किया – यह बात स्वयमेव असत्य सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न — उपादान में कार्य न हो तो परद्रव्य को निमित्त नहीं कहा जाता, यह बात ऊपर कही गई है परन्तु 'इस जीव को अनन्त बार धर्म का निमित्त मिला, तथापि जीव स्वयं धर्म को नहीं समझ पाया' – ऐसा कहा जाता है और उसमें जीव के धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ तो भी परद्रव्यों को धर्म का निमित्त तो कहा है ?

उत्तर — 'इस जीव को अनन्त बार धर्म का निमित्त मिला किन्तु स्वयं धर्म को नहीं समझा' – ऐसा कहा जाता है, यहाँ यद्यपि उपादान में (जीव में) धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ; इसलिए वास्तव में उसके लिए तो वे पदार्थ धर्म के निमित्त भी नहीं हैं परन्तु जो जीव धर्म प्रगट करते हैं, उन जीवों को इस प्रकार के ही निमित्त होते हैं – ऐसा ज्ञान कराने के लिए उसे सामान्यरूप से निमित्त कहा जाता है।

अनुकूल निमित्त

अमुक पदार्थों को अनुकूल निमित्त कहा है; इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ प्रतिकूल हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिए अनुकूल या प्रतिकूल है ही नहीं। निमित्त

को अनुकूल कहने का अर्थ इतना ही है कि कार्य के होते समय उस पदार्थ में निमित्तरूप होने की योग्यता है; इसलिए उस पर अनुकूलता का आरोप आ सकता है।

दो पर्यायों की योग्यता एक समय में नहीं होती

एक समय में दो पर्याय की योग्यताएँ कदापि नहीं होती। जिस समय जैसी योग्यता है, वैसी पर्याय प्रगट होती है और उसी समय यदि दूसरी योग्यता भी हो तो एक ही साथ दो पर्यायें हो जाएँ, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस समय जो पर्याय प्रगट होती है, उस समय दूसरी पर्याय की योग्यता नहीं होती। आटारूप पर्याय की योग्यता के समय रोटीरूप पर्याय की योग्यता नहीं होती, तब फिर इस बात को अवकाश ही कहाँ है कि निमित्त नहीं मिला इसलिए रोटी नहीं बनी ? और जब रोटी बनती है, तब उससे पूर्व की आटारूप पर्याय का अभाव करके ही बनती है, तब फिर दूसरे को उसका कारण कैसे कहा जा सकता है ? हाँ, जो परमाणु आटारूप पर्याय से व्यय हुआ, उसे रोटीरूप पर्याय का कारण कहा जा सकता है।

'जीव पराधीन है' इसका क्या अर्थ है ?

प्रश्न — समयसार नाटक में स्याद्वाद अधिकार के ९ वें काव्य में जीव को पराधीन कहा है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! जीव पराधीन है या स्वाधीन ? तब श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि द्रव्यदृष्टि से जीव स्वाधीन है और पर्यायदृष्टि से पराधीन है। वहाँ जीव को पराधीन क्यों कहा है ?

उत्तर — पर्यायदृष्टि से जीव पराधीन है अर्थात् जीव स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर परलक्ष्य द्वारा स्वयं स्वतन्त्ररूप

से पराधीन होता है परन्तु परद्रव्य जीव पर बलजोरी करके उसे पराधीन नहीं करते। पराधीन अर्थात् स्वयं स्वतन्त्ररूप से पर के आधीन होता है, पराधीनता मानता है; न कि परपदार्थ उसको आधीन करते हैं।

द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का क्रम

प्रश्न — यह उपादान-निमित्त की बात तो द्रव्यानुयोग की है। परन्तु पहले तो जीव चरणानुयोग के अनुसार श्रद्धानी हो और उस चरणानुयोग के अनुसार व्रत-प्रतिमा इत्यादि को अङ्गीकार करे और फिर द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धानी होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे - ऐसी जैनधर्म की परिपाटी कितने ही जीव मानते हैं, क्या यह ठीक है?

उत्तर — नहीं, जैनमत की ऐसी परिपाटी नहीं है। जैनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, पीछे व्रत होते हैं। सम्यक्त्व, स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है। इस प्रकार मुख्यरूप से तो निचलीदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है तथा गौणरूप से, जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने, उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश दिया जाता है; इसलिए समस्त जीवों को मुख्यरूप से द्रव्यानुयोग के अनुसार अध्यात्म-उपदेश का अभ्यास करना चाहिए। यह जानकर निचलीदशावालों को भी द्रव्यानुयोग के अभ्यास से पराङ्गमुख होना योग्य नहीं है।●

प्रकरण - 4

क्रिया के तीन प्रकार

क्रिया की सामान्य परिभाषा और उसकी स्वतन्त्रता

वस्तु की पर्याय का परिवर्तन होना, वह क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रतिसमय बदलती रहती है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन ही उसकी क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने में ही होती है, एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में नहीं होती; इसलिए एक द्रव्य की क्रिया भी दूसरे द्रव्य में नहीं होती तथा एक द्रव्य की क्रिया दूसरा द्रव्य नहीं करता।

क्रिया के तीन प्रकार

इस संसार में जड़ और चेतन दो प्रकार के द्रव्य हैं। द्रव्य की पर्याय ही क्रिया है, इसलिए क्रिया भी जड़ और चेतन दो प्रकार की है। जड़द्रव्य की अवस्था, जड़ की क्रिया है और चेतनद्रव्य की अर्थात् जीव की अवस्था, चेतन की क्रिया है अर्थात् जीव की क्रिया है।

जीव की क्रिया दो प्रकार की है - (1) रागादिभावरूप विकारी क्रिया और (2) रागादिभावरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अविकारी क्रिया। विकारी क्रिया बन्ध का कारण है, इसलिए उसे बन्ध की क्रिया भी कहते हैं और अविकारी क्रिया मोक्ष का कारण है, इसलिए उसे मोक्ष की क्रिया भी कहते हैं।

इस प्रकार क्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं -

(1) जड़ की क्रिया, जो कि जीव से भिन्न है।

(2) जीव की विकारी क्रिया, जो कि संसार का कारण है।

(3) जीव की अविकारी क्रिया, जो कि मोक्ष का कारण है।

जड़ की क्रिया

शरीर जड़ है, इसलिए उसकी प्रत्येक क्रिया, जड़ की क्रिया है। शरीर का हिलना-डुलना या स्थिर रहना जड़ की क्रिया है, उसके कर्ता जड़ परमाणु हैं; आत्मा उसका कर्ता नहीं है। जड़ की क्रिया के साथ बन्ध अथवा मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। शरीर की हलन-चलनरूप अवस्था में अथवा स्थिरतारूप अवस्था में बन्ध या मोक्ष की क्रिया नहीं है। तात्पर्य यह है कि शरीर की किसी भी क्रिया से आत्मा को बन्ध या मोक्ष, लाभ या हानि, अथवा सुख-दुःख नहीं होता क्योंकि शरीर की क्रिया जड़ की क्रिया है।

पहले शरीर की अवस्था घर में रहने की होती है और उसमें हलन-चलन होता है, फिर शरीर की अवस्था बदलकर वहाँ से धर्मस्थान में जाकर स्थिर होने की होती है। इस परिवर्तन से अज्ञानी जीव धर्म मानता है परन्तु जड़ की क्रिया बदल जाने से आत्मा को धर्म, पुण्य या पाप नहीं होता। शरीर की भाँति ही रुपया, पैसा, वस्त्र, आहारादि का संयोग-वियोग भी जड़ की क्रिया है, उससे धर्म अथवा पुण्य-पाप नहीं होता। इनमें से किसी भी क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है। जड़ की क्रिया का कर्ता जड़ है।

विकारी क्रिया अर्थात् संसार की क्रिया

जीव की पर्याय में जो राग-द्वेष अज्ञानरूप भाव होते हैं, वह जीव की विकारी क्रिया है, इस क्रिया को बन्ध की क्रिया कहते हैं।

शरीरादि जड़ की क्रिया से विकारी क्रिया नहीं होती और जीव की विकारी क्रिया से शरीरादि जड़ की क्रिया नहीं होती। राग-द्वेष अज्ञानरूप भाव, आत्मा की पर्याय में होते हैं; इसलिए आत्मा की पर्याय में ही वह विकारी क्रिया करने की योग्यता है। शरीर की क्रिया से पुण्य-पाप नहीं होते। पुण्य-पापरूप विकारी क्रिया बन्धन की क्रिया है, उस क्रिया के द्वारा संसार मिलता है, मोक्ष नहीं मिलता; अर्थात् इस क्रिया से धर्म नहीं होता।

प्रश्न — जड़ की क्रिया करने पर ही तो धर्म होता है ? जैसे पहले शरीर को घर से धर्मस्थान तक ले जाएँ, फिर वहाँ धर्म सुने, और यथार्थ समझ करे, इस प्रकार जड़ की क्रिया से धर्म होने की बात हुई या नहीं ?

उत्तर — जड़ की क्रिया के द्वारा धर्म नहीं होता। आत्मा, जड़ की क्रिया करता ही नहीं; इसलिए उस क्रिया के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। उपरोक्त दृष्टान्त में शरीर की क्रिया बदलने से धर्म नहीं हुआ है किन्तु 'तत्त्व समझने को जाना है' ऐसा शुभभाव हुआ है और घर से धर्मस्थान पर गया है, इसमें निम्न प्रकार की क्रियाएँ हुई हैं —

(1) शुभभाव होना पुण्य है, वह विकारी क्रिया है।

(2) शरीर का क्षेत्र परिवर्तन होना, वह जड़ की क्रिया है।

(3) आत्मप्रदेशों का क्षेत्रपरिवर्तन होना, वह आत्मा की विकारी क्रिया है।

(4) सत् सुनने के प्रति लक्ष्य होना, वह शुभभावरूप विकारी क्रिया है।

इस प्रकार यह चार क्रियाएँ हुई, तब तक तो धर्म नहीं हुआ है। जब धर्म सुनने के लक्ष्य से भी हटकर, स्वलक्ष्य की ओर उन्मुख हो और अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का महिमापूर्वक निर्णय करे तो वह अविकारी क्रिया है और वही धर्म है। जड़ की क्रिया, आत्मप्रदेशों की क्षेत्रपरिवर्तनरूप क्रिया और शुभरागरूप विकारी क्रिया से धर्मक्रिया भिन्न है।

इसी प्रकार किसी जीव के रुपया-पैसा कमाने इत्यादि की अशुभभावना हुई और शरीर की क्रिया उन कार्यों में हुई, तो वहाँ भी शरीर की क्रिया, जड़ की स्वतन्त्र क्रिया है, उससे जीव को लाभ -हानि नहीं होती और जो अशुभभाव हुए, वह जीव की विकारी क्रिया है, उससे जीव को पाप होता है। अशुभभावों के कारण भी जड़ की क्रिया नहीं होती।

अशुभपरिणाम से पाप और शुभपरिणाम से पुण्य, इन दोनों का समावेश विकारी क्रिया में होता है और दोनों समय होनेवाली शरीर की क्रिया, वह स्वतन्त्र जड़ की क्रिया है। मेरे परिणामों के कारण जड़ की क्रिया हुई है - ऐसा मानना मिथ्या है और पुण्य परिणामों के कारण धर्म की क्रिया हुई है - ऐसा मानना भी मिथ्या है।

किसी जगह शरीर दो घड़ी स्थिर होकर बैठा, वह तो जड़ की क्रिया है। यदि उस समय शुभपरिणाम हो तो वह पुण्य है और यदि धर्मस्थान में बैठकर भी घर इत्यादि के अशुभ विकार करता हो तो पाप है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, उनसे धर्म नहीं होता; यदि उस समय शुद्ध आत्मप्रतीति विद्यमान हो तो उतने अंश में अविकारी धर्मक्रिया है, वह मोक्ष की उत्पादक क्रिया है और पुण्य-पाप दोनों

बन्ध की क्रिया हैं, जो कि संसार की उत्पादक क्रिया है। किसी जीव ने अशुभ परिणाम छोड़ दिये और जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थगुरु एवं सत्शास्त्र के लक्ष्य से शुभराग किया तथा उसमें धर्म माना तो वह जीव भी बन्धन की ही क्रिया कर रहा है।

अविकारी क्रिया अर्थात् मोक्ष की क्रिया / धर्मक्रिया

अविकारी क्रिया का अर्थ है धर्म की क्रिया अथवा मुक्ति की क्रिया। लोग कहते हैं कि क्रिया से धर्म होता है, यह सच है, किन्तु वह क्रिया किसकी और कैसी? क्या वह जड़ की क्रिया है? या चेतन की विकारी क्रिया है या अविकारी? जिसे जड़, विकारी और अविकारी - ऐसा भिन्न-भिन्न तीनों क्रिया के स्वरूप का ही पता नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ से करेगा?

मुक्ति की क्रिया में पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और पर की ओर के झुकाव से जो भाव होता है, उसके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति की क्रिया में परपदार्थ पर या विकार पर दृष्टि नहीं होती, अपितु पर से और विकार से भिन्न अपने असंयोगी, अविकारी, त्रिकाल स्वभाव पर दृष्टि होती है। विकारी क्रिया भी आत्मा की वर्तमान दशा है और अविकारी क्रिया भी आत्मा की वर्तमान दशा है।

आत्मा की जो वर्तमान दशा, स्वभाव के साथ का एकत्व छोड़कर परलक्ष्य में और पुण्य-पाप में अटक जाती है, वह विकारी क्रिया है, संसार है, मोक्ष की घातक है, सुख को दूर करनेवाली और दुःख देनेवाली है तथा आत्मा की जो वर्तमान दशा परलक्ष्य से हटकर स्वलक्ष्य से अपने त्रैकालिक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता में टिकी हुई है, वह अविकारी क्रिया है, धर्म है, मोक्ष की उत्पादक है,

संसार की घातक है, सुख देनेवाली और दु:ख दूर करनेवाली है।

विकारी क्रिया या अविकारी क्रिया दोनों एक समयमात्र की जीव की अवस्था हैं किन्तु उन दोनों के लक्ष्य में अन्तर है। अविकारी क्रिया का लक्ष्य त्रिकाली शुद्धस्वभाव है और विकारी क्रिया का लक्ष्य पर में तथा पुण्य-पाप में है। जड़ का कार्य करने की बात दोनों में से एक भी क्रिया में नहीं है; जड़ की क्रिया इन दोनों से अलग स्वतन्त्र है, उससे न तो बन्ध होता है और न मुक्ति।

मोक्ष किसके लक्ष्य से होता है ? तीन प्रकार की क्रियाओं में से किस क्रिया से मोक्ष होता है ? क्या जड़ के लक्ष्य से मोक्ष होता है ? नहीं। पुण्य-पाप के लक्ष्य से ? नहीं। आत्मा में परद्रव्य का त्याग या ग्रहण नहीं होता, इसलिए उसके लक्ष्य से मोक्ष नहीं होता। जो पुण्य -पाप होते हैं, वे भी परलक्ष्य से होते हैं; इसलिए विकार हैं, उनके लक्ष्य से मोक्ष नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जड़ की क्रिया से और विकारी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। जड़ की क्रिया का बाह्य संयोग होने पर भी और पर्याय में क्षणिक राग-द्वेष होने पर भी, मैं इस जड़ से भिन्न हूँ और मेरे शुद्ध ज्ञानभाव में राग-द्वेष नहीं हैं - ऐसा भेदज्ञान होना धर्म की प्रारम्भिक क्रिया है; पश्चात् शुद्ध ज्ञाताभाव में स्थिरता करने पर राग-द्वेष दूर होते जाते हैं; वह चारित्र की क्रिया है। इस प्रकार धर्म की क्रिया से बल से विकार की क्रिया का नाश होता है।

धर्म की क्रिया शरीर में होती है या आत्मा में ? जिसकी भूमिका में धर्म की क्रिया होती है - ऐसे आत्मस्वभाव का जिसे पता नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ करेगा ? इसलिए सर्व प्रथम आत्मस्वरूप को समझना चाहिए। यही प्रारम्भिक धर्म की क्रिया है, इसके बिना धर्म की कोई क्रिया नहीं होती। ●

प्रकरण – 5

अज्ञानी के अभिप्राय में

व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष

और

उसके अभाव का उपाय

इस जगत में अनन्त प्राणियों को, अनादिकाल से अपने निश्चयस्वभाव की महिमा का ज्ञान न होने से राग और विकल्प का सूक्ष्म पक्ष रह जाता है। यहाँ व्यवहार के उस सूक्ष्म पक्ष का स्वरूप बताया जा रहा है, जिसको छोड़कर परमार्थ के आश्रय से धर्म की साधना हो सकती है।

जीव को परवस्तु, विकल्प तथा आत्मा का स्वभाव भी श्रवण में आता है, उसके ख्याल में यह आता है कि आत्मवस्तु, राग अथवा परवस्तु जैसी नहीं है, यह ख्याल में आने पर भी यदि राग में आत्मा का वीर्य / बल रुक जाए तो व्यवहार का पक्ष रह जाता है। यदि आत्मा के वीर्य को पर की ओर के झुकाव से पृथक् करके, स्वभाव के ज्ञान से वीर्य को शुभभाव में भी न लगाकर, शुभ से भी भिन्न आत्मस्वभाव की ओर प्रवृत्त करे तो समझना चाहिए कि जीव ने निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है और उसे ही धर्मसाधना अर्थात् सम्यक्त्वादि हैं।

आत्मा, वर्तमान में ही ज्ञानादि अनन्त स्वभाव / गुण का पिण्ड

है, उसकी अवस्था में जो वर्तमान अशुभ अवस्था होती है, उसे छोड़ने को जीव का मन होता है क्योंकि अशुभ से शुभ में वीर्य को युक्त करना, वह स्थूल कार्य है। नग्न दिगम्बर जैन साधु होकर पञ्च महाव्रत का शुभराग तथा देव-गुरु-शास्त्र की परलक्ष्यी श्रद्धा करके, उनकी कही हुई बात स्थूलरूप से ध्यान में लाने पर भी, जीव के सूक्ष्मरूप में व्यवहार की पकड़ रह गयी है, इसलिए उसे सम्यक्त्व नहीं हुआ है।

ज्ञान में शुभ और अशुभ दोनों को ही लक्ष्य में लेकर, जीव अपने भाव को अशुभ में से शुभ में बदल देता है, परन्तु यदि शुभराग से भी पार निज स्वभाव की ओर ढले तो व्यवहार का पक्ष छूट जाए और सम्यक्त्व हो जाए। (परन्तु यह कार्य नहीं करता।)

'राग मेरा स्वरूप नहीं है' - यह विकल्प भी राग है। मैं जीव हूँ, विकार मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार नव तत्त्वादिक के विकल्प में वीर्य का बल रुका रहे परन्तु स्वभाव में झुकने के लिए वीर्य की उन्मुखता काम न करे तो कहना होगा कि वह व्यवहार की रुचि में अटक रहा है; उसका झुकाव निश्चयस्वभाव की ओर नहीं है। जिस वीर्य का झुकाव निश्चयस्वभाव की ओर ढलता है, उस वीर्य में व्यवहार का पक्ष अवश्य छूट जाता है; इसलिए अनन्त तीर्थङ्करों ने निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध किया है।

स्वभावदृष्टि के बिना मिथ्यादृष्टि जीव यदि बहुत करे तो अशुभभाव को छोड़कर शुभभाव तक आता है और शुभभाव में ही उसके ज्ञान का लक्ष्य स्थिर हुआ है; वहाँ से हटकर त्रिकाली स्वभाव पर ज्ञान का लक्ष्य स्थिर नहीं करता; इस प्रकार जब तक स्वभाव की

ओर वीर्य का बल न हो, तब तक निश्चय का आश्रय नहीं होता और निश्चय के आश्रय के बिना व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता।

व्यवहार का आश्रय तो, जिसकी कभी मुक्ति होनेवाली नहीं है – ऐसा अभव्य जीव भी करता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय के आश्रय से ही मुक्ति होती है; अत: निश्चयनय से व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है।

सच्चे देव–गुरु–शास्त्र क्या कहते हैं ? इसका विचार ज्ञान में आता है, तथा पञ्च महाव्रतादिक के विकल्परूप जो व्यवहार है, उसे भी ज्ञान जानता है, किन्तु जब तक उस रागरूप व्यवहार से निश्चयस्वभाव् की अधिकता (पृथक्त्व) दृष्टि में नहीं आती, तब तक निश्चयस्वभाव में वीर्य का बल स्थिर नहीं होता और निश्चयस्वभाव के आश्रय बिना निश्चयसम्यक्त्व नहीं होता। निश्चयसम्यक्त्व के बिना व्यवहार का निषेध नहीं होता। इस प्रकार जीव को व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रह जाता है।

'राग प्रत्येक अवस्था में बदलता जाता है और उस विकार के पीछे निर्विकार स्वभाव को धारण करनेवाला द्रव्य ध्रुव है,' इस प्रकार विकल्प के द्वारा जीव ध्यान में लेता है, किन्तु जब तक त्रैकालिक स्वभाव में वीर्य को लगाकर, अरागी निश्चयस्वभाव का बल नहीं आता, तब तक व्यवहार का निषेध नहीं होता और व्यवहार के निषेध के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी को व्यवहार के पक्ष का सूक्ष्म अभिप्राय रह जाता है, वह केवलीगम्य है; वह छद्मस्थ को दृष्टिगोचर नहीं होता। वह अभिप्राय कैसे रह जाता है ? – इस सम्बन्ध में यहाँ कथन चल रहा है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी, एक, शान्तस्वरूपी है – ऐसा विकल्प में लेकर भी, जब तक स्वभाव सन्मुख होकर अनुभव न करे, तब तक सम्यक्त्व नहीं होता। अन्तरङ्ग में यह बात जम जाए कि बहिर्मुख भाव, मैं नहीं हूँ, तो उसका वीर्य विकार से अलग होकर निश्चयस्वभाव में ढल जाता है और निश्चयस्वभाव में वीर्य ढलते ही व्यवहार का निषेध हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि हो जाते हैं।

अभव्य जीवों को तथा मिथ्यादृष्टि भव्य जीवों को स्वभाव का ख्याल आने पर भी स्वभाव की महिमा नहीं आती। ख्याल में आता है, इसका अर्थ यहाँ पर सम्यग्ज्ञान में आने की बात नहीं है किन्तु ज्ञानावरण के क्षयोपशम की प्रगटता में इस बात का ध्यान आता है। ग्यारह अङ्ग के ज्ञान में सब बात आ जाती है कि आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है, राग क्षणिक है किन्तु अज्ञानी की रुचि का बल शुभ की ओर से नहीं हटता। बहुत गम्भीर स्वभाव की माहात्म्यदशा में बल को लगाना चाहिए, वह यह नहीं करता; इसलिए उसे व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

यहाँ पर अभव्य की बात तो मात्र दृष्टान्त के रूप में कही है किन्तु सभी मिथ्यादृष्टि जीव कहीं न कहीं व्यवहार के पक्ष में अटक रहे हैं; इसीलिए उन्हें निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं होता। सच्चे देव–शास्त्र–गुरु को मानकर, वे क्या कहते हैं – यह ध्यान में भी लिया, बाह्य में साधु भी हुआ, किन्तु रुचि को विकार से हटाकर त्रिकाली –स्वभाव की ओर नहीं लगाता। वर्तमान पर्याय को विकार से हटाकर त्रैकालिक स्वभाव की ओर लगाये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिए सर्वज्ञ भगवान ने सदा निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है।

जीव को शुभरागरूप व्यवहार का पक्ष है, उसकी जगह यदि त्रैकालिक स्वभाव की ओर वीर्य का बल लगाया जाए अर्थात् निश्चय का आश्रय करे तो सम्यक्त्वादि धर्म होता है।

शुभराग की प्रवृत्ति पर सम्यग्दर्शन अवलम्बित नहीं है किन्तु वह निश्चयस्वभाव के आश्रित है। यदि जीव, अपने स्वभाव की ओर रुचि नहीं लगाता तो उसके व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता और सम्यग्दर्शन नहीं होता क्योंकि सम्यग्दर्शन अन्तरङ्ग स्वभाव की वस्तु है।

त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों पहलुओं के ध्यान में आने पर भी जीव त्रैकालिक स्वभाव की रुचि की ओर नहीं झुकता, किन्तु वर्तमान पर्याय की रुचि की ओर उन्मुख होता है। 'यह स्वभाव है, यह स्वभाव है' इस प्रकार यदि रुचि स्वभाव की ओर झुके तो क्षणिक पर्याय की दृष्टि का अभाव हो जाए, किन्तु त्रिकाली स्वभाव की रुचि में लेने के बदले वर्तमान शुभराग को ही देखता है; इसलिए त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव में वीर्य का झुकाव नहीं होता अर्थात् निश्चय का आश्रय नहीं होता और व्यवहार पक्ष नहीं छूटता — यही मिथ्यात्व है।

आत्मा के वर्तमान वीर्य को वर्तमान के ही लक्ष्य पर (अवस्था -दृष्टि में) स्थिर करे और त्रैकालिक अन्तरङ्ग स्वभाव की ओर वीर्य को प्रेरित नहीं करे तो विकल्प का अभाव नहीं होता और सम्यग्दर्शन नहीं होता।

प्रत्येक जीव के वर्तमान अवस्था में वीर्य का कार्य तो होता ही रहता है, किन्तु उस वीर्य को कहाँ स्थापित करना चाहिए — यह भान नहीं होने से जीव के व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। 'मैं एक

ज्ञायकभाव हूँ, मैं वर्तमान राग जितना ही नहीं हूँ, किन्तु राग से अधिक त्रिकाल शक्ति का पिण्ड हूँ' इस प्रकार अपने निश्चयस्वभाव की रुचि के बल में वीर्य को स्थापित करना चाहिए – एकाग्र करना चाहिए। यदि निश्चयस्वभाव की ओर के बल में और रुचि में वीर्य को न जोड़े तो वह वीर्य व्यवहार के पक्ष में जुड़ जाता है और उसके व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रहता है।

जब व्यवहार के पक्ष से हटकर वीर्य को ज्ञायकस्वभाव में स्थापित किया जाता है, तब भी व्यवहार का ज्ञान तो (गौणरूप में) रहता ही है, कहीं ज्ञान छूट नहीं जाता, क्योंकि वह तो सम्यग्ज्ञान का अंश है। व्यवहार का ज्ञान छूटकर निश्चय की दृष्टि नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने पर व्यवहार का ज्ञान तो रहता है, किन्तु उसका आश्रय छूटकर स्वभाव की ओर झुकाव हो जाता है। इस प्रकार निश्चय के आश्रय के समय व्यवहार का पक्ष छूट जाने पर भी ज्ञान तो दोनों का ही रहता है, किन्तु जब ज्ञान सर्वथा व्यवहार की ओर ढलता है, तब निश्चयनय का आश्रय किञ्चित्मात्र भी न होने से वह व्यवहार का पक्षवाला ज्ञान मिथ्यारूप एकान्त है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद निश्चय का आश्रय होने पर भी, जब तक अपूर्ण भूमिका है, तब तक व्यवहार रहता है, किन्तु निश्चयनयाश्रित जीव को उस ओर आसक्ति नहीं होती, उसके वीर्य का बल व्यवहार की ओर नहीं ढलता।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान, नव तत्त्व का ज्ञान, ब्रह्मचर्य का पालन तथा जिन-पूजा, व्रत, तप और भक्ति इत्यादि करने पर भी जीव के मिथ्यात्व क्यों रह जाता है? क्योंकि 'यह वर्तमान शुभ

परिणाम ही मैं हूँ और इसी से मुझे लाभ है', इस प्रकार वर्तमान राग पर ही लक्ष्य को स्थिर करके उसमें अटक रहा है और त्रैकालिक एकरूप निरपेक्ष स्वभाव की ओर नहीं ढलता; इसीलिए मिथ्यात्व रह जाता है।

यदि जीव वर्तमान राग का लक्ष्य छोड़कर, त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को लक्ष्य में ले तो सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का आधार (आश्रयभूतवस्तु) त्रैकालिक स्वभाव है, वर्तमान पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।

निश्चय-अखण्ड अभेद स्वभाव की ओर जाते हुए बीच में जो विकल्पादिरूप व्यवहार आता है, उसके लिये खेद (अर्थात् हेयबुद्धि) होना चाहिए — ऐसा न करके जो उसके प्रति उत्साहित होता है, उसे स्वभाव के प्रति आदर नहीं रहता अर्थात् वह मिथ्यात्वी ही रहता है। निश्चयस्वभाव की ओर के वीर्य का उल्लास होने के बदले व्यवहार में जिसका वीर्य उल्लसित होता है, उसका भाव परावलम्बी रहता है; इसलिए उसके व्यवहार का पक्ष दूर नहीं होता। व्यवहार की रुचिवाला वह जीव, भगवान की दिव्यध्वनि का उपदेश सुनकर भी व्यवहार की रुचि को ही पुष्ट करता है। निश्चय के आश्रय का उल्लास न होने से व्यवहार की रुचि करता है कि 'व्यवहार तो बीच में आयेगा ही।' इस प्रकार मिथ्यदृष्टि के व्यवहार की गहरी, सूक्ष्म मिठास विद्यमान रहती है; इसलिए वह अपने स्वभाव में उल्लसित होकर सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

प्रश्न — व्यवहार का निषेध करने से एकान्त निश्चय नहीं हो जाएगी क्या?

उत्तर — नहीं, इसी में सच्चा अनेकान्त है। निश्चयस्वभाव और राग – दोनों को जानकर, जब वीर्य के बल को निश्चयस्वभाव में लाता है, तब ज्ञान में गौणरूप से यह ध्यान तो होता ही है कि अवस्था में विकार भी है। स्वभाव की ओर ढलनेवाला जीव, पर्याय की अपेक्षा से अपने को केवलज्ञानी नहीं मानता। इस प्रकार उसने ज्ञान में निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर, निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध किया है और यही अनेकान्त है। दोनों पक्षों को जानकर एक में आरूढ़ और दूसरे में अनारूढ़ हुआ अर्थात् निश्चय को ग्रहण किया और व्यवहार को छोड़ा, बस यही अनेकान्त है, किन्तु निश्चय और व्यवहार दोनों को आश्रय करने योग्य मानना तो एकान्त है।

दो नय परस्पर विरोधरूप हैं, इसलिए दोनों का आश्रय नहीं हो सकता। जब जीव निश्चय का आश्रय करता है, तब उसके व्यवहार का आश्रय छूट जाता है और जब व्यवहार के आश्रय में अटक जाता है, तब उसके निश्चय का आश्रय नहीं होता — ऐसा होने पर भी जो दोनों नयों को आश्रय करने योग्य मानते हैं, वे दोनों नयों को एकमेक मानने के कारण एकान्तवादी हैं।

राग तो सम्यग्दर्शन में सहायता नहीं करता, किन्तु 'राग मुझे सहायता नहीं करता' ऐसा विकल्प भी सहायता नहीं करता। जब जीव, राग से मुक्त होकर स्वभाव की ओर ढलता है, तब मुख्य स्वभाव की (निश्चय की) दृष्टि होती है और अवस्था गौण होती है। इस प्रकार निश्चय को मुख्य और व्यवहार को गौण करने से ही अनेकान्त का फल आता है।

जिसे व्यवहार का पक्ष है, वह जीव एकान्त व्यवहार की ओर ढल जाता है; इसलिए वह निश्चयस्वभाव का तिरस्कार करता है। मात्र वर्तमान की अर्थात् पर्याय की ओर की उन्मुखता में इतना अधिक बल नहीं है कि वह विकल्प को तोड़कर स्वभाव का दर्शन करा दे। यदि दृष्टि में निश्चयस्वभाव पर वजन नहीं दे तो व्यवहार को गौण करके स्वभाव की ओर नहीं झुक सकता और सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। यदि जीव, वर्तमान में होनेवाले विकारभाव की दृष्टि छोड़कर स्वभाव की ओर बल को लगाये तो अवस्था में स्वभावरूप कार्य होता है। जब ज्ञान और वीर्य, स्वभाव की ओर ढलते हैं, तब उसमें निश्चय की मुख्यता हुई और रागादि विकल्प को जानकर भी उसे मुख्य नहीं किया; यही व्यवहारनय का निषेध है। वहाँ भी व्यवहार का ज्ञान है किन्तु आदर नहीं है।

ज्ञान और वीर्य के बल से स्वभाव की जो मुख्यता होती है, उस मुख्यता का बल वीतरागता और केवलज्ञान होने तक बना रहता है; बीच में भले ही व्यवहार आये, किन्तु कभी भी उसकी मुख्यता नहीं होती। छठवें गुणस्थान तक राग रहेगा, तथापि दृष्टि में कभी भी राग की मुख्यता नहीं होगी। त्रैकालिक स्वभाव ही मुख्य है अर्थात् दृष्टि के बल से वह निश्चयस्वभाव की ओर ढलते-ढलते और रागरूप व्यवहार को तोड़ते-तोड़ते सम्पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान हो जाएगा। केवलज्ञान होने के बाद सम्पूर्ण नयपक्ष का ज्ञाता होने से और राग न होने से वहाँ न कोई मुख्य रहता है और न गौण; और न कोई विकल्प ही रहता है। वहाँ तो साध्य की सिद्धि हो चुकी है।

नव तत्त्वों की व्यवहारश्रद्धा और ग्यारह अङ्ग का ज्ञान होने पर

भी जीव को सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हुआ ? त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों को लक्ष्य में तो लिया किन्तु त्रैकालिक स्वभाव की ओर झुका नहीं; अतः सम्यक्त्व नहीं हुआ। त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख होनेवाला प्रथम दोनों का विचार करके स्वभावसन्मुख होता है। जो स्वभाव की दृढ़ता प्राप्त कर लेता है, वह व्यवहार को फीका कर देता है। यद्यपि अभी व्यवहार का सर्वथा अभाव नहीं हुआ, किन्तु जैसे-जैसे स्वभाव की ओर ढलता जाता है, वैसे-वैसे व्यवहार का अभाव होता जाता है।

वस्तु को मात्र धारणा में लेने से ही सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान को स्वभाव की ओर ले जाने की आवश्यकता है। यहाँ ज्ञान और श्रद्धा दोनों के बल को स्वभावसन्मुख करने की बात है। शुभराग से मेरा स्वभाव भिन्न है, इस प्रकार का जो ज्ञान है, उस ओर वीर्य को ढालते ही तत्काल सम्यग्दर्शन हो जाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो वीर्य भी स्वभाव की ओर ढले, किन्तु जिसके राग की पुष्टि और रुचिभाव है, उसका व्यवहार की ओर का झुकाव दूर नहीं होता। जहाँ तक मान्यता और रुचि के वीर्य में निरपेक्षस्वभाव नहीं रुचता और राग रुचता है, वहाँ तक मिथ्यात्व है।

जीव अशुभभाव को दूर करके शुभभाव तो करता है; परन्तु वह शुभभाव में धर्म मानता है, यह स्थूल मिथ्यात्व है। जीव अशुभभाव को दूर करके शुभभाव करता है और शास्त्रादि के ज्ञान से यह भी समझता है कि शुभराग से धर्म नहीं होता, तथापि चैतन्यस्वभाव की ओर का वीर्य न होने से उसके मिथ्यात्व रह जाता है। चैतन्यस्वभाव की ओर के बल से वर्तमान की ओर से हटना ही दर्शनविशुद्धि है।

यहाँ ज्ञान का परलक्ष्यी क्षयोपशम अथवा कषाय की मन्दता पर वजन नहीं है किन्तु दर्शनविशुद्धि पर ही सम्पूर्ण वजन है।

जिस प्रकार किसी से सलाह पूछी और उसके कथन को ध्यान में भी रखा, परन्तु उसके अनुसार परिणमन नहीं किया; इसी प्रकार शास्त्र के कथन से यह तो जान लिया कि निश्चय के आश्रय से मुक्ति और व्यवहार के आश्रय से बन्ध होता है, इस प्रकार उस सलाह को ध्यान में लेकर भी उसरूप परिणमन नहीं किया; शास्त्रकथित दोनों पहलुओं को ध्यान में तो लिया परन्तु रुचि तो राग में ही रखी, तब सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा? उसे दिव्यध्वनि का कथन तो ध्यान में आ जाता है कि 'भगवान ऐसा कहते हैं' किन्तु उस ओर वह रुचि नहीं करता। क्षयोपशमभाव से मात्र धारणा करता है, परन्तु वह यथार्थतः रुचि से नहीं समझता। यदि यथार्थतः रुचि से समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहे।

स्वभाव की बात राग से भिन्न होती है। जो जीव, स्वभाव की रुचि के साथ स्वभाव की बात सुनता है, वह उस समय राग से आंशिक भिन्न होकर सुनता है। यदि स्वभाव की बात सुनते-सुनते उकता जाए अथवा यह विचार आये कि यह तो कठिन मार्ग है, इस प्रकार स्वभाव की ओर अरुचि हो तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की अरुचि और राग की रुचि है, क्योंकि वह यह मानता है कि राग में मेरा वीर्य काम कर सकता है; रागरहित स्वभाव में नहीं कर सकता — यह भी व्यवहार का ही पक्ष है।

स्वभाव की बात सुनकर, उसकी महिमा लाकर, स्वभाव की ओर वीर्य का उल्लास इस प्रकार होना चाहिए कि 'अहो! यह तो

मेरा ही स्वरूप बतला रहे हैं' किन्तु यदि ऐसा माने कि 'यह काम मुझसे नहीं होगा' तो समझना चाहिए कि वह राग के चक्कर में पड़ गया है, राग से पृथक् नहीं हुआ है।

हे भाई! यदि तूने यह माना कि तुझसे राग का कार्य हो सकता है, किन्तु राग से अलग होकर रागरहित ज्ञान का कार्य, जो कि तेरा स्वभाव ही है, तुझसे नहीं हो सकता तो समझना चाहिए कि त्रैकालिक स्वभाव की अरुचि होने से तुझे सूक्ष्मरूप में राग के प्रति मिठास है; व्यवहार की पकड़ है और यही कारण है कि सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जहाँ रागरहित ज्ञायकस्वभाव की बात आये, वहाँ यदि जीव को ऐसा लगे कि 'यह काम कैसे होगा?' तो समझना चाहिए कि उसका वीर्य व्यवहार में अटक गया है, उसे स्वभाव की दृष्टि नहीं है। ज्ञानस्वभाव सूक्ष्म है, उसकी मिठास छूटी कि राग की मिठास आ गयी। वह जीव अभी निश्चयस्वभाव की अपूर्व बात को नहीं समझा और उसे किसी न किसी प्रकार से व्यवहार की रुचि रह गयी है।

पण्डित जयचन्द्रजी श्री समयप्राभृत में कहते हैं कि 'प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही विद्यमान है और इसका उपदेश भी बहुधा सभी प्राणी परस्पर करते हैं तथा जिनवाणी में शुद्धनय का हस्तावलम्बन समझ कर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है, किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं आया और इसका उपदेश भी विरल है, क्वचित्-क्वचित् है; इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ

है, इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसे जाने बिना जीव जब तक व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा के ज्ञान-श्रद्धारूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।'

आत्मा के निश्चयस्वभाव की दृष्टि करने पर व्यवहार गौण हो जाता है। वहाँ यदि स्वभाव के कार्य के लिए वीर्य नकार करे और व्यवहार के लिए रुचि करे तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की रुचि नहीं है और स्वभाव की रुचि के बिना वीर्य स्वभाव में काम नहीं कर सकता अर्थात् उसकी व्यवहार की रुचि दूर नहीं होती।

ज्ञानियों ने यह बात बारम्बार कही है कि यह निश्चयनय, व्यवहार का निषेध करता है। उसमें व्यवहार के स्वरूप का ज्ञान भी उसी के साथ आ जाता है। निश्चयनय जिस व्यवहार का निषेध करता है, वह व्यवहार कौन सा है ? कुदेव आदि की मान्यतारूप जो ज्ञान है, वह तो मिथ्यात्व पोषक है, उसका तो निषेध ही है क्योंकि उसमें तो व्यवहारत्व भी नहीं है। कुदेव आदि की मान्यता को छोड़कर, सच्चे देव-गुरु-शास्त्रों ने जो कहा है, उसके ज्ञान को व्यवहार कहा गया है और वह भी निश्चयसम्यग्दर्शन का मूलकारण नहीं है, इसलिए निश्चयस्वभाव के बल से व्यवहार का निषेध किया गया है।

जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी कुदेव आदि को सत्यार्थरूप में मानता है, वह ज्ञान तो व्यवहार से भी भ्रष्ट अर्थात् दूर है। जिन निमित्तों की ओर से वृत्ति को उठाकर स्वभाव में ढलना होता है, वे निमित्त क्या हैं, इसका जिसे विवेक नहीं है, उसे स्वभाव का विवेक तो हो ही नहीं सकता और यह भी नियम नहीं है

कि जो सच्चे निमित्तों की ओर झुकता है, उसे स्वभाव का विवेक होता ही है; नियम तो यह है कि जो निश्चयस्वभाव का आश्रय लेता है, उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है; इसीलिए निश्चयनय से आश्रय से व्यवहारनय का निषेध है।

शास्त्र की ओर के विकल्प से जो ज्ञान है, वह व्यवहार है। उस ज्ञान की ओर से वीर्य को हटाकर, उसे स्वभाव की ओर मोड़ा जाता है। सत् निमित्त की ओर के भाव से जैसा पुण्यबन्ध होता है, वैसा पुण्य अन्य निमित्तों की ओर के झुकाव से नहीं बँधता। तात्पर्य यह है कि यद्यपि लोकोत्तर पुण्य भी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के विकल्प से होता है किन्तु वह भी पर की ओर सन्मुख है, निश्चयस्वभाव की ओर सन्मुख नहीं है; इसलिए उसका निषेध है। जैसे पागल मनुष्य का ज्ञान / निर्णय हीन होता है, इसलिए उसका माता को माता कहना भी अयथार्थ है; इसी प्रकार अज्ञानी का स्वभाव की ओर का निर्णयरहित ज्ञान दोषित हुए बिना नहीं रह सकता।

सर्वज्ञ भगवान के कथन की ओर जो झुकाव है, वह भी व्यवहार की ओर का झुकाव है। वीतराग शासन में कथित जीवादि नव तत्त्वों की विकल्प से जो श्रद्धा है, वह भी पुण्य का कारण है क्योंकि उसमें भेद का और पर का लक्ष्य है और परलक्ष्य धर्म का कारण नहीं है। जिस जीव के निमित्त तो अविरुद्ध है किन्तु निमित्त की ओर से हटकर अभी स्वभाव की ओर नहीं झुका है, उसे भी निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है।

आचाराङ्ग इत्यादि सच्चे शास्त्र, जीवाजीवादिक नव तत्त्वों का स्वरूप और एकेन्द्रिय आदि छह जीवनिकायों का प्रतिपादन वीतराग

जिनशासन के अतिरिक्त अन्य किसी में तो है ही नहीं, परन्तु वीतराग जिनशासन में कहे अनुसार शास्त्रों का ज्ञान करे, जीवादिक नवतत्त्वों की श्रद्धा करे और छह जीवनिकायों को मानकर उनकी दया करे तो वह भी पुण्य का कारण है और उसे व्यवहारदर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा जाता है किन्तु परमार्थदृष्टि उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र के रूप में स्वीकार नहीं करती, क्योंकि जिनशासन के व्यवहार तक आया, इतने मात्र से धर्म नहीं है। यदि निश्चय आत्मस्वभाव की ओर ढलकर उस व्यवहार का निषेध करे तो धर्म है। इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहार का निषेध करता है।

इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि अज्ञानी को व्यवहार की सूक्ष्म पकड़ कहाँ रह जाती है? तथा निश्चयनय का आश्रय कैसे होता है? अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों को मिथ्यात्व क्यों रह जाता है तथा सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट होता है? - यह बतलाया है।

इस विषय से सम्बन्धित कथन मोक्षमार्गप्रकाशक में भी आता है, वह इस प्रकार है — 'सत्य को जानता है, तथापि उसके द्वारा अपना अयथार्थ प्रयोजन ही सिद्ध करता है; इसलिए वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।'

यद्यपि ज्ञान के क्षयोपशम में निश्चय-व्यवहार दोनों का ख्याल होता है, तथापि अपने बल को निश्चय की ओर ढालना चाहिए, उसकी जगह व्यवहार की ओर ढालता है; इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

अज्ञानी व्यवहार-व्यवहार करता है और ज्ञानी निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध ही निषेध करता है।

श्री प्रवचनसारजी में कहा है कि – 'जिसे ऐसा आगमज्ञान हो गया है कि जिसके द्वारा समस्त पदार्थों को हस्तकमलकवत् जानता है, और यह भी जानता है कि इसका जाननेवाला मैं हूँ, परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार अपने को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्य -द्रव्यरूप अनुभव नहीं करता' अर्थात् स्व-पर को जानता हुआ भी अपने निश्चयस्वभाव की ओर नहीं झुकता, किन्तु व्यवहार की पकड़ मैं अटक जाता है, इसलिए वह कार्यकारी नहीं है; क्योंकि वह निश्चय का आश्रय नहीं लेता। ●

अतीन्द्रिय आनन्द की मौज में मुनिराज

मुनिराज तो भीतर अतीन्द्रिय आनन्द में मौज करते हैं; वे कर्मप्रक्रम अर्थात् शिष्यों को पढ़ाना, पाठशाला चलाना या लेख लिखना आदि किसी भी बाह्य कार्य का बोझ सिर पर नहीं रखते। भगवान के समवसरण में जाकर वाणी सुनने, धर्मोपदेश देने व्रतादि पालने या श्रुत-चिन्तन का विकल्प आता है, परन्तु दृष्टि के आश्रयभूत शुद्ध चैतन्य विज्ञानघन के रसास्वादन के समक्ष वह सब बोझरूप लगता है। अहा! ऐसी अद्भुत बात है।

(- वचनामृत-प्रवचन, पृष्ठ ३५१)

प्रकरण - 6

वस्तु के सामान्य-विशेषरूप अंशों की स्वाधीनता

वस्तु सामान्य-विशेष स्वरूप है। जैसे वस्तु का सामान्य अंश स्व से है, पर नहीं है; वैसे वस्तु का विशेष अंश भी स्व से है, पर से नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह ज्ञान अभी भी इन्द्रियों के अवलम्बन से जानता है या इन्द्रियों के बिना ही ? यदि वर्तमान ज्ञान इन्द्रियों से होता है तो सामान्य ज्ञानस्वभाव के वर्तमान विशेष का अभाव होगा। यदि ज्ञान, इन्द्रियों से जानता हो तो उस समय जो सामान्य ज्ञान है उसका विशेष कार्य क्या हुआ ? आत्मा का ज्ञान, इन्द्रियों से नहीं, किन्तु सामान्य ज्ञान की विशेष अवस्था से जानता है।

यदि वर्तमान में जीव विशेष ज्ञान से नहीं जानता हो और इन्द्रिय से जानता हो तो विशेष ज्ञान ने कौन सा कार्य किया ? आत्मा, इन्द्रिय से जानने का कार्य करता ही नहीं है। ज्ञान स्वयमेव विशेषरूप होकर जानने का कार्य करता है। निम्नदशा में भी जड़-इन्द्रिय और ज्ञान एकत्रित होकर जानने का कार्य नहीं करते, परन्तु सामान्यज्ञान, जो आत्मा का त्रिकालस्वभाव है, उसी का विशेषरूप ज्ञान वर्तमान जानने का कार्य करता है।

प्रश्न - यदि ज्ञान का विशेष ही जानने का कार्य करता है तो इन्द्रियों के बिना जानने का कार्य क्यों नहीं होता ?

उत्तर – जब ज्ञान की उस प्रकार की विशेषता की योग्यता नहीं होती, तब ज्ञान नहीं होता और जब इन्द्रियाँ होती हैं, तब भी ज्ञान जानने का कार्य तो अपने आप ही करता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि 'निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करना चाहिए' – यह उसी का विवरण चल रहा है। इन्द्रियों के होते हुए भी ज्ञान स्वतन्त्ररूप से अपनी अवस्था से जानता है। यदि यह माना जाएगा कि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो इसका अर्थ यह होगा कि ज्ञान का विशेष कुछ कार्य नहीं करता और ऐसा होने पर बिना विशेष के सामान्यज्ञान का ही अभाव हो जाएगा; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान, इन्द्रियों से नहीं जानता। अल्पज्ञान जब अपने द्वारा जानता है, तब अनुकूल इन्द्रियाँ उपस्थित रहती हैं किन्तु ज्ञान उनकी सहायता से नहीं जानता। इसका ही नाम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु यदि यह माना जाएगा कि ज्ञान इन्द्रियों से जानता है तो वह मान्यता मिथ्या होगी क्योंकि इस मान्यता में निमित्त और उपादान एक हो जाते हैं।

जीव का ज्ञानस्वभाव सिद्ध करने को आचार्यदेव शिष्य से पूछते हैं कि यदि जीव ने इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया तो विशेष ज्ञान ने कौन सा कार्य किया? उस समय तो उसका अभाव ही मानना होगा न?

शिष्य ने उत्तर देते हुए कहा कि भले ही ज्ञानविशेष नहीं हो तो भी ज्ञानसामान्य तो त्रिकाल में रहेगा ही? और जानने का काम इन्द्रियों से होगा – ऐसा होने से ज्ञान का नाश नहीं होगा, अभाव नहीं होगा।

तब आचार्यदेव उससे कहते हैं कि भाई! तेरा निर्विशेष सामान्य

तो 'खरगोश के सींग' जैसा अर्थात् अभावरूप है। बिना विशेष के सामान्य हो ही नहीं सकता; इसलिए निर्विशेष सामान्यज्ञान मानने से सामान्यज्ञान का भी नाश या अभाव हो जाएगा; इसलिए यदि यह माना जाए कि विशेषज्ञान से ही जाननेरूप कार्य होता है तो ही सामान्यज्ञान का अस्तित्व रह सकेगा।

ज्ञानस्वभाव, राग और निमित्त के अवलम्बन से रहित है और विशेषज्ञान, सामान्यज्ञान से ही आता है – ऐसा जानकर उसकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करना ही धर्म है।

यदि आत्मा, इन्द्रियों से जानता है तो फिर उसके ज्ञान का वर्तमान कार्य कहाँ गया? यदि इन्द्रियों की उपस्थिति में ज्ञान इन्द्रियों के कारण जानता है तो उस समय सामान्यज्ञान, विशेषपर्यायरहित हुआ, किन्तु बिना विशेष के सामान्य तो होता नहीं है। जहाँ सामान्य होगा, वहाँ उसका विशेष होगा ही।

अब प्रश्न यह होता है कि वह विशेष, सामान्यज्ञान से होता है या निमित्त से? विशेषज्ञान, निमित्त के कारण तो हुआ नहीं है, किन्तु सामान्य स्वभाव से हुआ है। विशेष का कारण सामान्य है, निमित्त उसका कारण नहीं है। यदि उसे अंशतः भी निमित्त का कार्य माना जाए तो निमित्त, जो परद्रव्य है, उसरूप ज्ञान हो जाएगा। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्थिर है, वह सामान्य और जो वर्तमान कार्यरूप है, वह ज्ञान का विशेष है। सामान्यज्ञान का विशेष कहो, स्थिर ज्ञानस्वभाव का परिणमन कहो या ज्ञान की वर्तमान दशा (पर्याय) कहो, कुछ भी कहो, वह सब एक ही है और स्वयं अपने से स्वतन्त्र है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। वह केवल जानने का ही काम

करता है। शब्द को, रूप को या किसी को भी जानने के लिए ज्ञान एक ही है, ज्ञान में कोई अन्तर नहीं हो जाता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयमेव है, वह किसी के निमित्त से नहीं है। आत्मा का जो त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव है, वह अपने आप ही विशेषरूप कार्य करता है। आत्मा इन्द्रियों से जानता ही नहीं, वह अपने ज्ञान की विशेष अवस्था से ही जानता है। सामान्यज्ञान स्वयं परिणमन करके विशेषरूप होता है, वह जानने का कार्य करता है। यह मानना अधर्म है कि ज्ञान दूसरे के अवलम्बन से जानता है। ज्ञान, स्वभावालम्बन से जानता है – ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता धर्म है।

यहाँ, परावलम्बनरहित ज्ञान की स्वाधीनता बताई गयी है, यह जयधवला शास्त्र की विशेषता है। इसमें और भी अनेक बातें हैं, जिसमें से यह एक विशेष है।

मेरे ज्ञान का परिणामरूप / विशेष व्यापार (उपयोग) मेरे द्वारा होता है, उसे किसी दूसरे निमित्त की या परद्रव्य की आवश्यकता नहीं है; इसलिए वह ज्ञान स्वयं समाधान और सुखस्वरूप है। ज्ञान, स्वाधीन स्वभाव होने से ही निगोद से लेकर सिद्ध जीवों तक सबको ज्ञान होता है परन्तु जैसा हो रहा है, वैसा अज्ञानी नहीं मानता और अपना ज्ञान पर से मानता है; इसलिए उसकी मान्यता में विरोध आता है।

सभी जीवों का ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान का विशेष कार्य अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है; इसलिए ज्ञान, राग या पर निमित्त के अवलम्बन के बिना ही कार्य करता है; अतः ज्ञान, राग या संयोग से रहित है।

आज श्रुतपञ्चमी है। करीब 1900 वर्ष पहले सातवें–छट्ठे गुणस्थान में झुलते हुए महान् सन्त–मुनियों – आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने ज्ञान–प्रभावना का विकल्य होने से महान् परमागम शास्त्रों (षट् खण्डागम) की रचना की और अङ्कलेश्वर में उत्साहपूर्वक श्रुत–पूजा की थी। उस श्रुतपूजा का माङ्गलिक दिन ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी है।

मेरा ज्ञानस्वभाव सदा स्थिर रहे, मेरे ज्ञान की अटूटधारा बहती रहे अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हो; इस प्रकार वास्तव में अन्तरङ्ग में पूर्णता की भावना उत्पन्न होने पर, उन्हें बाहर ऐसा विकल्प उठा कि श्रुतज्ञान–आगम स्थिर बना रहे; ऐसे श्रुत के विकल्प से महान परमागम शास्त्रों की रचना हुई और संघ ने उनकी श्रुतपूजा की; वही मङ्गल दिन आज (ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी) है। वास्तव में यह भावना दूसरे के लिए नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान की अटूटधारा बहने की भावना है। वीतरागी सन्तों के द्वारा इन शास्त्रों की रचना हुई है। इन शास्त्रों में अनेक अपूर्व बातें हैं; उनमें से आज दो विशेष बातें कहनी हैं।

ज्ञान, इन्द्रियों से नहीं जानता। यदि ज्ञान, विशेष के बिना रहे, तो वर्तमान विशेष के बिना ज्ञान कैसे जानेगा? यदि विशेष न हो तो सामान्यज्ञान ही कहाँ रहा? यदि वर्तमान पर्यायरूप विशेष को नहीं मानेंगे तो 'सामान्यज्ञान है' इसका निर्णय भी कौन करेगा? निर्णय तो विशेषज्ञान करता है। वर्तमान विशेषज्ञान (पर्याय) को अन्तर्मुख करके परावलम्बनरहित सामान्य ज्ञानस्वभाव जैसा है, वैसा जानना, इसी में धर्म का समावेश हो जाता है।

ज्ञान, राग को जानता है, पर को जानता है, इन्द्रियों को जानता

है परन्तु वह किसी को अपना नहीं मानता; ज्ञान का ऐसा स्वभाव है। जो विकार को अथवा पर को अपना नहीं मानता, उसे दुःख नहीं होता। मेरे ज्ञान को कोई परावलम्बन नहीं है - ऐसे स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करे तो उस स्वभाव में शङ्का या दुःख हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि ज्ञानस्वभाव स्वयं सुखरूप है।

कोई भी जीव, इन्द्रियों से नहीं जानता। जिसे सबसे अल्पज्ञान है - ऐसा निगोदिया जीव भी स्पर्शन इन्द्रिय से नहीं जानता, किन्तु वह अपने सामान्यज्ञान के परिणमन से होनेवाले विशेषज्ञान के द्वारा जानता है किन्तु वह ऐसा मानता है कि मुझे इन्द्रिय से ज्ञान हुआ है। जब जीव को सामान्य ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से अर्थात् सामान्य की ओर एकाग्रता होने से विशेषज्ञान होता है, तब वह सम्यक् मतिरूप होता है और उस मतिज्ञानरूप अंश में बिना परावलम्बन ज्ञानस्वभाव की पूर्णता की प्रतीति आती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव किसी संयोग के कारण से नहीं है; यदि ऐसे स्वाधीन ज्ञानस्वभाव को न जाने तो धर्म नहीं होता। धर्म कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु अपना ज्ञानानन्दस्वभाव ही धर्म है; इसमें तो समस्त शास्त्रों का रहस्य आ जाता है। यह बात भी इसमें आ गयी कि कोई किसी का कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। जड़-इन्द्रियाँ, आत्मा के ज्ञान की अवस्था नहीं करती और आत्मा का ज्ञान, पर का कुछ नहीं करता, इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की स्वतन्त्रता सिद्ध हो गई।

सभी सम्यक् मतिज्ञानियों का ज्ञान, निमित्त के अवलम्बन बिना सामान्य स्वभाव के अवलम्बन से कार्य करता है, इसलिए सर्व निमित्तों के अभाव में, सम्पूर्ण असहाय होकर, सामान्यस्वभाव के

अवलम्बन से विशेषरूप जो केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है, उसका निर्णय वर्तमान मतिज्ञान के अंश द्वारा उसे हो सकता है। यदि पूर्ण असहाय ज्ञानस्वभाव, मतिज्ञान के निर्णय में नहीं आये तो वर्तमान विशेष-अंशरूप ज्ञान (मतिज्ञान) पर के अवलम्बन के बिना प्रत्यक्षरूप है – यह निर्णय भी नहीं हो सकता। सामान्यस्वभाव के आश्रय से जो विशेषरूप मतिज्ञान प्रगट हुआ है, उस मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो अंश प्रगट हुआ है, वह अंशी के आधार के बिना प्रगट नहीं हुआ है; इसलिए अंशी के निर्णय के बिना अंश का निर्णय नहीं होता।

अहो! आज श्रुतपञ्चमी है। इस जयधवला में जो केवलज्ञान का रहस्य भरा गया है, उसकी मुख्य दो विशेषताएँ हैं, जिनकी स्पष्टता होती है – (1) अपने ज्ञान की विशेषरूप अवस्था परावलम्बन के बिना स्वाधीन भाव से है;

(2) उस स्वाधीन अंश में समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष है – यह दो मुख्य विशेषताएँ हैं।

सामान्यस्वभाव की प्रतीति करता हुआ, जो वर्तमान निर्मल स्वावलम्बी ज्ञान प्रगट हुआ, वह साधक है और वह पूर्ण साध्यरूप केवलज्ञान को प्रत्यक्ष जानता हुआ प्रगट होता है। वह साधकज्ञान स्वाधीनभाव से अपने कारण से, भीतर के सामान्यज्ञान की शक्ति के लक्ष्य से परिणमन करता हुआ साध्य केवलज्ञानरूप होता है, उसमें कोई बाह्यावलम्बन नहीं है किन्तु सामान्य ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन है।

आत्मा का धर्म आत्मा के ही पास है। अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव होता है, उसे ज्ञान जान लेता है किन्तु उसका

अवलम्बन ज्ञान नहीं मानता अर्थात् सर्व निमित्त के बिना पूर्ण स्वाधीन केवलज्ञान का निर्णय करता हुआ और प्रतीति में लेता हुआ स्वाश्रित मति-श्रुतज्ञान, सामान्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है; इस प्रकार ज्ञान का कार्य परावलम्बन से नहीं होता किन्तु स्वाधीन स्वभाव के अवलम्बन से होता है, इसमें ज्ञान की स्वतन्त्रता बतायी है।

ज्ञान की भाँति श्रद्धा की स्वतन्त्रता

आत्मा में श्रद्धागुण त्रिकाल है। सामान्य श्रद्धागुण का जो स्वाश्रित विशेष है, वह सम्यग्दर्शन है। श्रद्धागुण का वर्तमान यदि देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि पर के आश्रय से परिणमन करे तो उस समय श्रद्धागुण ने कौन सा विशेष कार्य किया? श्रद्धा सामान्यगुण है, उसका विशेष, सामान्य के अवलम्बन से ही होता है। सम्यग्दर्शनरूप विशेष पर के अवलम्बन से कार्य नहीं करता किन्तु सामान्यश्रद्धा के अवलम्बन से ही उसका विशेष प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन उस श्रद्धागुण की विशेष दशा है। श्रद्धागुण त्रिकाल है और सम्यग्दर्शन उसकी पर्याय है। श्रद्धागुण के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनरूप विशेष दशा प्रगट होती है। यदि देव, शास्त्र, गुरु इत्यादि पर के अवलम्बन से श्रद्धा का विशेष कार्य होता हो तो उस समय सामान्य श्रद्धा का विशेष क्या है? विशेष के बिना सामान्य कदापि नहीं होता। आत्मा की श्रद्धा की वर्तमान अवस्थारूप जो कार्य होता है, वह त्रैकालिक श्रद्धागुण का है, वह कार्य किसी पर के अवलम्बन से नहीं, किन्तु सामान्य के अवलम्बन से प्रगट हुआ है। विशेष के बिना सामान्य हो ही नहीं सकता।

आनन्द की भी स्वाधीनता

ज्ञान और श्रद्धागुण के अनुसार आनन्दगुण के सम्बन्ध में भी

यही बात है; आत्मा का वह वर्तमान आनन्द यदि पैसा इत्यादि पर के कारण से परिणमन करे तो उस समय आनन्दगुण ने स्वयं वर्तमान में कौन सा कार्य किया? यदि पर से आनन्द प्रगट हुआ तो उस समय आनन्दगुण का विशेष कार्य कहाँ गया? अज्ञानी ने पर में आनन्द माना, उस समय भी उसका आनन्द गुण स्वाधीनतापूर्वक कार्य करता है। अज्ञानी ने आनन्द का वर्तमान कार्य पर से माना; अतः आनन्द गुण का विशेष उसे दुःखरूप परिणमित होता है। आनन्द पर से प्रगट नहीं होता, किन्तु संयोग और निमित्त के बिना आनन्द नाम के सामान्यगुण के अवलम्बन से वर्तमान आनन्द प्रगट होता है, इसे समझ लेने पर स्वभाव के प्रति लक्ष्य जाता है और उसके अवलम्बन से विशेषरूप आनन्ददशा प्रगट होती है।

सामान्य आनन्दस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट हुआ आनन्द का अंश, पूर्ण आनन्द की प्रतीति को लेकर प्रगट होता है। यदि आनन्द के अंश में पूर्ण आनन्द की प्रतीति नहीं हो तो वह अंश किसका?

चारित्र, वीर्य इत्यादि सर्व गुणों की स्वाधीनता

इसी प्रकार चारित्र, वीर्य इत्यादि समस्त गुणों का विशेष / कार्य सामान्य के अवलम्बन से ही होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि निमित्त के अवलम्बन से कार्य करता हो तो अन्तरङ्ग के सामान्य पुरुषार्थ स्वभाव ने क्या किया? क्या सामान्यस्वभाव, विशेष के बिना ही रहा? विशेष के बिना सामान्य नहीं रह सकता। प्रत्येक गुण का वर्तमान अर्थात् विशेषअवस्थारूप कार्य, सामान्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। अतः कर्म पुरुषार्थ रोकता है, यह बात मिथ्या होने से खण्डित हो गयी।

सभी गुण त्रिकाल हैं, उनका कार्य किसी निमित्त अथवा राग के अवलम्बन से ज्ञानियों के नहीं होता किन्तु अपने ही सामान्य के अवलम्बन से होता है। यह स्वाधीन स्वरूप जिसके अन्तर में जम गया, उसे पूर्ण की प्रतीतिपूर्वक गुण का अंश प्रगट होता है। जिसके पूर्ण की प्रतीतिसहित ज्ञान प्रगट होता है, उसकी अल्पकाल में मुक्ति अवश्य हो जाती है। जिस सामान्य के बल से एक अंश प्रगट हुआ, उसी सामान्य के बल से पूर्णदशा प्रगट होती है। विकल्प के कारण सामान्य की विशेष अवस्था नहीं होती। यदि विकल्प के कारण विशेष होता हो तो विकल्प का अभाव होने पर विशेष का भी अभाव हो जाएगा। वर्तमान विशेष, सामान्य से ही प्रगट होता है, विकल्प से नहीं; इसे समझना ही धर्म है।

यह प्रत्येक द्रव्य की स्वाधीनता की स्पष्ट बात है; दो और दो चार जैसी सीधी सरल बात है; इसे न समझकर, इसकी जगह यदि जीव इस प्रकार पराश्रयता माने कि सबकुछ निमित्त से होता है और एक दूसरे का कार्य करता है तो यह सब मिथ्या है, यह उसकी मूल भूल है। यदि पहले ही दो और दो तीन मानने की भूल हो गयी हो तो उसके बाद सभी भूल होती जाएँगी। इस प्रकार जिसकी मूल वस्तुस्वभाव की मान्यता में भूल हो, उसका सब मिथ्या है।

स्वाधीनता से प्रगट हुआ अंश पूर्ण को प्रत्यक्ष करता है

जगत में परद्रव्य भले हों, परनिमित्त भले हों; जगत में तो सर्व वस्तुओं का अस्तित्व है, किन्तु वह कोई वस्तु मेरी विशेष अवस्था करने के लिए समर्थ नहीं है। मेरे आत्मा के सामान्यस्वभाव का अवलम्बन करके मेरी विशेष अवस्था होती है, वह स्वाधीन है।

और यह स्वाधीनता से प्रगट होनेवाला विशेष ही पूर्ण विशेषरूप केवलज्ञान का कारण है। जो विशेष प्रगट होता है, वह पूर्ण को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट होता है।

प्रश्न — वर्तमान अंश में 'पूर्ण' प्रत्यक्ष कैसे होता है ?

उत्तर — जहाँ विशेष को पर का अवलम्बन नहीं रहता और अपने सामान्यस्वभाव का अवलम्बन रहता है, वहाँ 'पूर्ण' प्रत्यक्ष होता है। जहाँ निमित्त अथवा विकाररहित मात्र सामान्यस्वभाव का अवलम्बन है, वहाँ विशेष प्रत्यक्ष ही होता है, अंश में पूर्ण प्रत्यक्ष होता है। यदि अंश में पूर्ण प्रत्यक्ष न हो तो अंश ही सिद्ध न हो। 'यह इसका अंश है' यह तभी निश्चय हो सकता है, जब अंशी प्रत्यक्ष हो। यदि अंशी अर्थात् 'पूर्ण' प्रत्यक्ष न हो तो अंश भी सिद्ध नहीं हो सकता।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी जब स्वसन्मुख होते हैं, तब प्रत्यक्ष हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष तो 'पर को जानते समय इन्द्रिय का निमित्त है' इस अपेक्षा से कहा है। इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करने के लिए वह कथन किया है किन्तु स्व को जानते समय तो वह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है।

परावलम्बनरहित सामान्य के अवलम्बन से मेरा विशेष ज्ञान होता है, इस प्रकार जिसके सामान्यस्वभाव की प्रतीति जम गयी, उसका विशेषज्ञान, दूसरे को जानते समय भी स्वाधीनता की प्रतीतिसहित जानता है। पर को जानते हुए भी पर का अवलम्बन नहीं मानता।

जिस ज्ञान में यह निश्चय किया कि 'यह ख भे का एक छोर है' उस ज्ञान में सारा ख भा ध्यान में आ ही गया है; जहाँ यह निश्चय

किया कि 'यह पृष्ठ समयसार का है' वहाँ इस प्रकार ज्ञान के निर्णय में पूर्ण और अंश दोनों आ गये। जिस प्रकार 'यह समयसार का पृष्ठ है' यह कहने पर यह भी निश्चय हो गया कि उसके आगे-पीछे के सभी पृष्ठ किसी अन्य ग्रन्थ के नहीं हैं, किन्तु समयसार के ही हैं; इस प्रकार सारा ग्रन्थ ध्यान में आ जाता है। सारे ग्रन्थ को ध्यान में लिये बिना यह निश्चय नहीं हो सकता कि 'यह पृष्ठ उस ग्रन्थ का है।' इसी प्रकार 'यह मतिज्ञान उस केवलज्ञान का अंश है' इस प्रकार केवलज्ञान लक्ष्य में आये बिना निश्चित नहीं हो सकता।

यदि कोई कहे कि ज्ञान के अप्रगट अन्य अंश तो अभी शेष हैं न? उसका समाधान यह है कि यहाँ सारे अवयवी-पूर्ण की बात है, दूसरे अंशों की बात नहीं है। यहाँ पर अंश के साथ अंशी का अभेद बताया है। पूर्ण ज्ञान लक्ष्य में न हो तो 'यह ज्ञान का अंश है' ऐसा कहाँ से निश्चय किया? वर्तमान अंश के साथ अंशी अभिन्न है, वर्तमान अंश में सारा अंशी अभेदरूप में लक्ष्य में आ गया है, इसलिए जीव यह प्रतीति करता है कि यह अंश, इस अंशी का है।

वर्तमान अंश और पूर्ण अंशी का अभेदभाव है। यहाँ पर दूसरे अंश के भेदभाव की बात नहीं ली गयी है। अंशी में सब अंश आ गये हैं। यहाँ पर मतिज्ञान और केवलज्ञान का अभेदभाव बताया है। मतिज्ञान अंश है और केवलज्ञान अंशी है। अंश-अंशी अभिन्न हैं; इसलिए यह समझना चाहिए कि मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष आ जाता है।

स्वाधीनता की प्रतीति में केवलज्ञान

आचार्य भगवान ने आत्मा का स्वाधीन पूर्ण स्वभाव बताया है। तू आत्मा है, तेरा ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभाव की विशेष अवस्था

तेरे सामान्यस्वभाव के अवलम्बन से होती है; सामान्यस्वभाव के अवलम्बन से विशेषरूप जो मतिज्ञान प्रगट हुआ है; वह पूर्ण केवलज्ञान के साथ अभेदस्वभाववाला है। निमित्त और राग के अवलम्बन से रहित सामान्य के अवलम्बनवाला ज्ञान, स्वाधीन स्वभाववाला है। जिसके अन्तर में यह बात जम जाती है, उसे केवलज्ञान के बीच कोई विघ्न नहीं आ सकता। यह तीर्थङ्कर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान की घोषणा करती आयी है। सामान्यस्वभाव के लक्ष्य से जो अंश प्रगट हुआ है, उस अंश के साथ ही केवलज्ञान अभेद है; इस प्रकार केवलज्ञान की बात की गयी है।

केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान का घोषण करती हुई आयी है और केवलज्ञान के साधक आचार्यों ने यह बात परमागम-शास्त्रों में संग्रह की है। तू भी केवलज्ञान को प्राप्त करने की तैयारी में है, तू अपने स्वभाव के बल पर हाँ कह! अपने स्वभाव की प्रतीति के बिना पूर्ण-प्रत्यक्ष का विश्वास जागृत नहीं होता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वाधीन है, कभी भी बिना विशेष के ज्ञान नहीं होता। जिस समय विशेष में थोड़ा ज्ञान था, वह अपने से ही था और जो विशेष में पूरा होता है, वह भी अपने से ही होता है; उसमें किसी पर का कारण नहीं है। इस प्रकार जीव यदि ज्ञानसवभाव की स्वाधीनता को जान ले तो वह पर में न देखकर, अपने में ही लक्ष्य करके पूर्ण का पुरुषार्थ करने लगे।

सामान्य किसी भी समय निर्विशेष नहीं होता, प्रत्येक समय सामान्य का विशेष कार्य तो होता ही है। चाहे जितना छोटा कार्य हो तो भी वह सामान्य के परिणमन से होता है। निगोद से लेकर

केवलज्ञान तक आत्मा की सर्व परिणति अपने से ही है; इस प्रकार जहाँ स्वतन्त्रता अपनी प्रतीति में आती है, वहाँ परावलम्बन दूर हो जाता है। मेरी परिणति मुझसे ही कार्य कर रही है, इस प्रकार की प्रतीति में आवरण और निमित्त के अवलम्बन का चूरा हो जाता है।

आत्मा के अनन्त गुण स्वाधीनतया कार्य करते हैं। कर्ता, भोक्ता, ग्राहकता, स्वामित्व इत्यादि अनन्त गुणों की वर्तमान परिणति निमित्त और विकल्प के आश्रय के बिना अपने आप ही प्रगट होती है।

मेरे ज्ञान के मति-श्रुत अंश स्वतन्त्र हैं, उन्हें किसी पर का अवलम्बन नहीं है - ऐसी प्रतीति होने पर किसी निमित्त का अथवा पर का लक्ष्य नहीं रहता; सामान्यस्वभाव की ओर ही लक्ष्य रहता है। इस सामान्यस्वभाव के बल से जीव को पूर्णता का पुरुषार्थ होता है। पहले पर के निमित्त से ज्ञान का होना माना था, तब वह ज्ञान पर लक्ष्य में अटक जाता था किन्तु स्वाधीन स्वभाव से ज्ञान होता है - ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञान को कहीं भी रुकने का नहीं रहता।

मेरे ज्ञान में पर का अवलम्बन नहीं है, असाधारण ज्ञान का ही अवलम्बन है। इस प्रकार सामान्यस्वभाव के कारण जो ज्ञान परिणमित होता है, उस ज्ञानधारा को तोड़नेवाला कोई है ही नहीं अर्थात् स्वाश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ है, वह केवलज्ञान की ही पुकार करता हुआ प्रगट हुआ है। वह ज्ञान, अल्पकाल में ही केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। ज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान कार्य करता है - ऐसी प्रतीति में केवलज्ञान समा जाता है।

पहले ज्ञान की अवस्था अल्प थी, पश्चात् जब वाणी सुनी तब ज्ञान बढ़ा किन्तु वह वाणी के सुनने से बढ़ा है - यह बात नहीं है;

लेकिन जहाँ ज्ञान की अवस्था बढ़ी, वहाँ ज्ञान ही अपने पुरुषार्थ से कषाय को कम करके विशेषरूप में हुआ है अर्थात् अपने कारण से ही ज्ञान हुआ है – ऐसी प्रतीति होने पर स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव के बल से पूर्णज्ञान का पुरुषार्थ होता है।

ज्ञानियों को स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बल से वर्तमान अल्पदशा में भी केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान प्रतीति में आ गया है।

अज्ञानी को स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती; इसलिए उसे यह ज्ञान नहीं होता कि पूरी अवस्था कैसी होती है तथा उसे पूर्ण शक्ति की भी प्रतीति नहीं होती। अनेक प्रकार के निमित्त बदलते जाते हैं और उसने निमित्त का अवलम्बन माना है, इसलिए उसके निमित्त का लक्ष्य बना रहता है तथा स्वतन्त्र ज्ञान की प्रत्यक्षता की श्रद्धा उसके नहीं जमती। 'मेरा वर्तमान मुझसे होता है, मेरी शक्ति पूर्ण है और इस पूर्ण शक्ति के आश्रयरूप पुरुषार्थ के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है।' ज्ञानी को इस प्रकार की प्रतीति है।

जिस ज्ञान के अंश से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की, वह ज्ञान केवलज्ञान को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट हुआ है, इस प्रकार सामान्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने पर पूर्ण को लक्ष्य में लेता हुआ जो विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है, वह बीच के भेद को (मति और केवलज्ञान के बीच के भेद को) उड़ाता हुआ पूर्ण के साथ ही अभेदभाव को करता हुआ प्रगट हुआ है। बीच में एक भी भव नहीं है। ज्ञान में अवतार कैसा? केवलज्ञान की प्रतीति में भव का निषेध है। आचार्यदेव ने अविच्छिन्न धारा से केवलज्ञान की बात कही है। यह बात जिसके अन्तर में जम जाती है, उसे भव का अन्त होकर केवलज्ञान होता है। ●

प्रकरण - 7

जीव का कर्त्तव्य

द्रव्यदृष्टि का अभ्यास

'प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् है, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है;' इस प्रकार यथार्थतया जाननेवाले को स्वद्रव्य की दृष्टि होती है और द्रव्यदृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन होता है। जिसे सम्यग्दर्शन होता है, उसे मोक्ष हुए बिना नहीं रहता; इसलिए मोक्षार्थी को सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप जानना आवश्यक है।

प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता - ऐसा मानने पर वस्तुस्वभाव का इस प्रकार ज्ञान हो जाता है कि आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न है तथा प्रत्येक पुद्गल परमाणु भिन्न है, दो परमाणु मिलकर एकरूप होकर कभी कार्य नहीं करते क्योंकि प्रत्येक परमाणु भिन्न ही है।

जीव के विकारभाव होने में विकारी परमाणु अर्थात् स्कन्ध निमित्तरूप हो सकते हैं परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से देखने पर प्रत्येक परमाणु पृथक् ही है; दो परमाणु कभी भी नहीं मिलते और एक पृथक् परमाणु जीव को कभी भी विकार का निमित्त नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य भिन्न है - ऐसी स्वभावदृष्टि से कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के विकार का निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार अर्थात्

द्रव्यदृष्टि से किसी द्रव्य में विकार है ही नहीं, जीवद्रव्य में भी द्रव्यदृष्टि से विकार नहीं है।

पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में राग-द्वेष होता है और उसमें कर्म निमित्तरूप होता है, किन्तु पर्याय को गौण करके द्रव्यदृष्टि से देखा जाए तो कर्म कोई वस्तु ही नहीं रहा क्योंकि वह तो स्कन्ध है; इसलिए द्रव्यदृष्टि से जीव के विकार का निमित्त कोई द्रव्य न रहा, अर्थात् अपनी ओर से लिया जाए तो जीवद्रव्य में विकार ही नहीं रहा। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य भिन्न है - ऐसी दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि होने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण ही नहीं रहा; अत: द्रव्यदृष्टि में वीतरागभाव की ही उत्पत्ति रही।

अवस्थादृष्टि में / पर्यायदृष्टि में अथवा दो द्रव्यों के संयोगी कार्य की दृष्टि में राग-द्वेषादि भाव होते हैं। 'कर्म' अनन्त पुद्गलों का संयोग है, उस संयोग पर या संयोगीभाव का लक्ष्य किया तो राग -द्वेष होते हैं किन्तु अपने असंयोगी आत्मस्वभाव की दृष्टि करने से राग-द्वेष नहीं होते, अपितु उस दृष्टि के बल से मोक्ष ही होता है। इसलिए मुमुक्षु को द्रव्यदृष्टि का अभ्यास परम कर्तव्य है। ●

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक -

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10) श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (21) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (22) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (23) श्रीमती त्रिशलादेवी वीरेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (24) श्रीमती कोकिलाबेन शाह c/o श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (25) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई।

संरक्षक -

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर।

परम सहायक -

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल,

खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिंसिपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग।

भारत में उत्तरप्रदेश प्रान्त की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१वीं शती का
विशुद्ध जिनायतन सङ्कुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रमुख दर्शनीय स्थल

1. कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थङ्करों की निर्वाणस्थलियाँ - कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुरी, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
2. भगवान महावीर मन्दिर
3. भगवान बाहुबली मन्दिर
4. पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केन्द्र
5. आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र
6. धन्य मुनिदशा (दिगम्बर मुनिराजों की दशा एवं चर्या)
7. आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
8. भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (हाथरस) उत्तरप्रदेश

email : pawanjain@mangalayatan.com; info@mangalayatan.com

website : www.mangalayatan.com

वस्तुविज्ञानसार